पिया

[सामाजिक उपन्यास]

लेखिका

उषादेवी मित्रा

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

६६, दरियागंज : दिल्ली

प्रथम संस्करण १९३७
द्वितीय संस्करण १९४२
तृतीय संस्करण १९४४
चतुर्थ संस्करण १९४६
पंचम संस्करण १९५९

मुद्रक :
बालकृष्ण एम. ए.
युगान्तर प्रेस, डफ़रिन पुल, दिल्ली।

: १ :

दीर्घ अवगुण्ठन की आड़ में आकाश की नीली आभा मर मिटी थी। आकाश की उस धूसर परछाईं के नीचे पृथ्वी एक विरह-विधुरा तरुणी-सी उदास बैठी थी। रिमझिम-रिमझिम मेह बरस रहे थे। और सन्ध्या उन नन्हीं-नन्हीं बूँदों के गले में बाँह डाले ग्राम-प्राङ्गण में अलसा-सी रही थी। चहुँ ओर व्यापी थी गहरी तन्द्रा। ग्राम्य पथ थे निर्जन, वृक्षों पर था पक्षियों का विचित्र कलरव। दिन के प्रकाश की शेष रेखा को विदा देने का वह शायद करुण-विलाप रहा हो, अथवा श्रद्धापूर्ण वन्दनागान; या तो शायद रात्रि-रूपसी के लिए आरती की वह कलतान हो, कौन जाने पक्षी-हृदय की वह कोई गोपन कहानी हो। कदाचित् वन-गहन की अनोखी वार्ता का शब्द-विन्यास या केवल सुर-झंकार ही रहा हो!

कृषक अपनी शान्त-कुटीर की स्निग्ध छाया में ऊँघने लगे थे। गाभी के नेत्र नींद से झुक चुके थे। किन्तु वह—वह सूर्य-किरण-सी दीप्त, स्वर्ग-किन्नरी-सी अपरूप, तरुणी नीलिमा तब भी तालाब के किनारे बैठी बासन माँज रही थी। उसके अधीर नेत्र बार-बार आकाश के प्रति उठ रहे थे। उसकी संगी-साथिन उस दिन सब घर लौट गई थीं। केवल वही एक रह गई थी—अकेली, बिल्कुल अकेली। उसके चहुँ ओर था विराट् सूनापन और सिर के ऊपर थे छोटे-छोटे मेघ के टुकड़े, बूँदों से ओत-प्रोत, मस्ताने से।

उदास दृष्टि से नीलिमा ने सूने तालाब को देखा, दीर्घश्वास से हृदय मथित हो गया। घर के धंधों में देर लग गई। दिन का दिन ही व्यर्थ गया, सखी-सहेलियों से घड़ी भर बात भी न कर पाई और जल-क्रीड़ा···

ग्राम में नदी-नाले और भी थे, किन्तु निकट पड़ता था ज़मींदार सुकान्त चटर्जी का यह तालाब। चाहे ज़मींदार शहर में रहते हों और ग्रामवासियों से उनका परिचय न भी रहा हो, परन्तु तालाब उनकी सत्ता सिर-माथे पर लिए बैठा था न! 'ज़मींदार-तालाब' के नाम से वह परिचित था।

प्रातः-संध्या उसके चहुँ ओर की पत्थर की सीढ़ियों पर स्त्रियों की भीड़ लगी रहती। कोई हँसती, कोई रोती, कोई किसी से कलह करती जिसकी कर्कशता को सुनकर किनारे के नारियल और पीपल पर बैठा काग भी एक बार मुँह का ग्रास छोड़कर विस्मित दृष्टि उठाता, उसके शिथिल पंजे से वह आयास-अर्जित आहार टप से जल में गिर पड़ता। किसी स्वप्निल संध्या में कोई विरहिनी पीपल के नीचे खड़ी सखी को विरहकथा सुनाती, उस विच्छेद को सुनकर पीपल तक सिहर उठता और ताड़ अपने पत्तों की मर-मर ध्वनि से उसे सहानुभूति जताता।

बूँदें घनी हुईं, बासन धुल चुके थे। उसने शीघ्रता से भरी गागर सिर पर रखी और लौटी। परन्तु दूसरे पल जुलाहा-वधू के आकर्षण से नीलिमा रुकी। विरक्ति से उसके मुख की रेखाएँ संकुचित हो रही थीं।

'अरे राम, छू ही तो लिया! साँझ बेला में फिर नहाना

पड़ेगा। अन्धी है क्या ?'

विनीत कंठ से वधू कहने लगी—'बादल कड़का, मैं डर गई। तुम्हें छू लिया, अब फिर से तुम्हें नहाना पड़ेगा नीलिमा दीदी ? माफ़ करो बहन !'

विराग से नीलिमा बोली—'ब्राह्मण के घर की विधवा हूँ, संध्या-बन्दन है, नियम-धर्म है, कौन-सी बात नहीं है ? और तूने छू लिया। कैसी स्पर्द्धा है ! दिन-पर-दिन कैसी अनोखी बातें होने लग गई हैं। अभी और भी जाने क्या-क्या हो जावे।'

'क्षमा करो दीदी ! और कभी ऐसी ग़लती न होगी। बच्चा बीमार है। अम्मा उसे लिए बैठी हैं। मिनट भर ठहर जाओ, साथ चली चलूँगी, डर लग रहा है।'

'क्या मैं बारिन, महरी हूँ, जो तेरे लिए खड़ी रहूँ ? ऐसी सर्दी में नहाकर बीमार पड़ जाऊँगी, यह विचार तो गया चूल्हे में, ऊपर से आज्ञा देती है। इसका पहरा दो। इन्द्र की परी है न, कोई लूट ले जाएगा ?' बड़बड़ाती हुई नीलिमा पानी में उतरी और स्नान कर ऊपर आ गई।

'दो मिनट और ठहर जाओ नीला बहन !'—भीत नेत्र से बहू चहुँ ओर देखने लगी। उसका शरीर काँप रहा था।

'कहती जाती हूँ, मैं नहीं रुक सकती। नीच जाति के पास जहाँ दो पैसे हो गए बस लगी स्वर्ग में सीढ़ी बनाने। मारे घमण्ड के धरती पर पैर नहीं पड़ते। आग लगे ऐसे पैसे में।'

'नहीं ठहरतीं तो जाओ किन्तु ऐसी भरी साँझ में शाप न दो। दो-चार नहीं, एक तो बच्चा है। वह भी बेसुध पड़ा है। भगवान् ! मेरे बच्चे को अच्छा कर दो—सवा पाँच रुपये का

परसाद चढ़ाऊँगी।'—वहू आकाश की ओर हाथ जोड़कर कहने लगी।

'पति-पुत्र के घमण्ड में फूली नहीं समाती! विधवा हूँ तो अपने लिए। ईश्वर ने मुझे मारा है। ये बातें मुझे सुनाकर क्या करेगी? पाँच के नहीं, तू दस के प्रसाद चढ़ा न। ऊँचे पेड़ को आँधी एक झपेटे में समेट लेती है! भूली किस बात पर है? क्या मैं कुछ समझती नहीं? अभी-अभी मुझे सुनाकर जिन रुपयों का घमण्ड कर रही थी, उस पर गाज न टूट पड़े तो कहना!'

वधू सिहर उठी, बोली—'कोस तो लिया दीदी! जी भर कर, अब जरा ठहर जाओ। अकेली मैं घर कैसे लौटूँगी?'

इस बार नीलिमा उत्तर दिए बिना ही आगे की सीढ़ियों को तय करती जल्दी-जल्दी ऊपर पहुँच गई।

'डरो मत भौजी, मैं खड़ी हूँ। जल्दी-जल्दी काम कर लो।'

उस कोमल स्वर से नारी-द्वय चौंकीं। अपनी छोटी बहिन कविता को देखकर नीलिमा क्रोध, क्षोभ से बावली-सी हो गई—'तुझे यहाँ किसने बुलाया कविता? हर बात में सयानी बनती है।'

'तुम्हें घर लौटने में देरी देखकर माँ ने मुझे भेजा है। तुम्हारे कपड़े भीगे हैं, घर जाकर बदल डालो दीदी, नहीं बीमार पड़ जाओगी। मैं यहाँ ठहरती हूँ।'

'पानी-आंधी में यहाँ खड़े रहने की क्या जरूरत है? भीग न जाओगी, घर चलो कविता।'

कविता खिलखिला पड़ी—'स्कूल में तो मैं रोज भीगा

करती हूँ। बासन मुझे दे दो। तुम घर चलो दीदी, मैं अभी आई। बेचारी भौजी डर रही है।'

'वह मरे या जिये हमसे मतलब ? दिन-पर-दिन हठी हो रही हो। किसी को कुछ समझती नहीं। यह सब अँग्रेजी पढ़ने का गुण है। मैं तभी कहती थी कि माँ इसे स्कूल मत भेजो, मैं दिन भर बासन माँजूँ, धान कूटूँ, घर-गृहस्थी के धन्धे करूँ और उधर दुलारी कविता जूते-मोजे पहनकर स्कूल जावे। संसार ही उलटा है न। यहां एक-सी दृष्टि कहाँ ? अभी से बड़ी बहन की अवहेलना करना। पास कर लेने से तो न जाने क्या करेगी।'

जल्दी-जल्दी काम से निपटकर जुलाहा-बहू ऊपर आई— 'तकलीफ़ हुई तुम्हें कवि बहन ! अब चलो।'

गरज पड़ी नीलिमा—'अब क्या तेरे साथ-साथ चलना पड़ेगा ?'

'कल गिर पड़ी थी, पैर में आज भी दर्द है। ज़रा धीरे चलो बहन, मेरा घर तो पहले पड़ता है।'—विनीत-कण्ठ से उसने कहा।

बहन को वाद-प्रतिवाद का अवसर न देकर कवि आगे-आगे चल पड़ी—'बच्चा अब कैसा है भौजी ?'

नीलिमा के नेत्र विस्फारित हो उठे। वह केवल आँखें फाड़-फाड़कर देखती रह गई कि वर्षा में भीगती, मधुमक्खी जैसी गुनगुनाती दोनों सखी किस आराम से इठलाती चली जा रही हैं। नहीं, नीलिमा और अधिक देख-सुन नहीं सकती थी और न सह सकती थी। उस अविराम वर्षा की गोद में वह,

बैठ गई उसी कीचड़ में। उसके कठोर मुख पर व्यथा और अभिमान की छाया निविड़ होने लगी। छोटी की उपेक्षा ने समुन्दर का जल उसकी आँखों में भर दिया। कितने दिनों की न जाने कितनी छोटी-बड़ी घटनाएं उनकी आँखों के सामने आ कर अड़ने लगीं। वर्तमान, अतीत और भविष्य के चित्र मानो सचल और सजीव हो गये।

अभाव, दारिद्रय के भीतर नीलिमा का जन्म हुआ था। पिता अल्प वेतन पाते थे, कठिनाई से गृहस्थी चलती थी। आजी, पिता, माता और दोनों बहनों को लेकर गृहस्थी छोटी न थी। स्त्री-शिक्षा में पिता की रुचि अवश्य थी; किन्तु आजी थी विरोधी। और इसीलिए वह न तो घर पर पढ़ पाई, न स्कूल में। मातृ-भक्त पिता माता के सन्तोष के लिए गौरीदान का संचय कर बैठे थे, अष्टवर्षीया नीलिमा का विवाह करके।

विवाह की बात नीलिमा को छिन्न-भिन्न सपना-सी लगती। उसके साथ और एक दिन की बात उसे स्मरण हो आती—एक दीर्घ अभिशाप, आकुल क्रन्दन की तरह उस एक दिन की बात, जिस दिन उसे हृदय से लगाकर माता ने विवश हो आँसू की झड़ी लगा दी थी और उसकी माँग का सिन्दूर नदी में बहाकर कांच की चूड़ियां उतार ली थीं!—हां और भी बहुत कुछ है न। उसी वर्ष आजी स्वर्गलोक पधारीं। मृत्यु के समय वह एक बात और कह गई थीं, जिसे नीलिमा भूल नहीं सकती। वह माता को प्रोत्थित धन और अलंकार का पता देती गई थीं कि उस अर्थ से कविता का विवाह कर देना और उसे पढ़ाना। वह उनका अनुरोध नहीं, आदेश था, जिसकी

अवहेलना उस घर के कुत्ते भी नहीं कर सकते थे। बचपन में कविता को विवाह देने का वह निषेध कर गई थीं और पढ़ने पर ज़ोर देती गई थीं ; नहीं, वरन् पुत्र से और पुत्र-वधू से भी प्रतिज्ञा करा ली थी। उनके मत का ऐसा परिवर्तन कौन-से शुभ या अशुभ मुहूर्त्त में हो गया था सो नीलिमा क्या जाने ? जाने या न जाने वह बूढ़ी आत्मा ! पिता की मृत्यु हुई थी अचानक। बस, तब से वह और माता अर्द्ध अनशन में रहकर कविता को पढ़ाती चली आ रही हैं। अगले साल वह मैट्रिक परीक्षा देवेगी।

अतीत की ओर निहारते-निहारते, उस पुरानी कथा के स्मरण से नीलिमा का जी जाने कैसा कर उठा। आँसू सूख गये। वेदना, अपमान से नेत्र स्तिमित-से हो रहे थे। वह विचारने लगी—वह मूर्ख, अशिक्षित, विधवा है ; तभी तो छोटी बहन उसकी अपेक्षा कर सकी। माना कि यह सब सच है, फिर इसमें उसका अपराध ? क्या यह उसके हाथ की बात थी ? विधवा है—वह मूरख—मूरख। उसके अन्तर की नारी आहत अभिमान से सिर पीटने लगी। नीलिमा रो पड़ी—व्यर्थ गया है उसका त्याग, बिल्कुल व्यर्थ। और सहनशीलता ? उसे तो पृथ्वी ने लौटकर देखना भी उचित न समझा। कविता शिक्षा पा रही है, धनवान के घर उसका ब्याह हो जावेगा, हीरे-मोती से लदी मोटर पर घूमती फिरेगी। उसकी एक छोटी आज्ञा के लिए दास-दासी व्याकुल रहेंगे, रजत पात्र में भोजन करेगी, खीर, मिष्टान्न से तृप्त होवेगी, सोने के पान-दान में पान बनावेगी। और वह,—वह तो धान कूटकर,

बासन मांज कर, चीथड़े पहन कर दिन बितावेगी। इन बातों को विचारते-विचारते नीलिमा ज़ोर से रो पड़ी।

: २ :

छोटे मकान के गज भर के आंगन में जब नीलिमा आ कर खड़ी हो गई तब रात-रानी इन्द्रलोक से धरती तक उतर चुकी थी।

कोने की कोठरी से जननी हरमोहिनी ने पूछा—'कौन है?'

'मैं हूँ।'—भारी गले से नीलिमा ने उत्तर दिया।

'इतनी रात तक तालाब पर क्या कर रही थी?'

'मर रही थी।'

'न जाने कैसी बातें करती है! सन्ध्या निकल गई। तुलसी के पास दिया न जला!'

'क्या कविता नहीं जला सकती थी?'

—हरमोहिनी चुप रही। नीलिमा ने कपड़े बदले, गीले कपड़े निचोड़कर सूखने को डाल दिये। उसके बाद दिया जलाकर तुलसी के नीचे रख आई।

आंगन के कोने में तुलसी-मञ्च, दोनों ओर मिट्टी के छोटे दालान, दालान के उस ओर छोटी कोठरियाँ। बस इतना ही था। नीलिमा ने एक टूटी लालटेन जलाकर सामने रख दी, और मिट्टी का प्रदीप लिये अपनी कोठरी में चली गई। अप्रसन्न मुख से गमछा उठाया एवं गमछे से भीगे बालों को

पोंछने लगी । सहसा उसकी दृष्टि दर्पण पर जा गिरी । दीवाल पर एक धुँधला-सा दर्पण लटक रहा था । नीलिमा विस्मित, पुलकित, अचल हो रही । इन्द्रसभा की किस किन्नरी की छाया दर्पण में पड़ी ? दीर्घ, कुञ्चित केशराशि से घिरा परम सुन्दर मुख, आंसू भरे आयत लोचन उसकी आंखों में—उसके हृदय में धूम मचाने लगे । विस्मय-व्याकुल विह्वल दृष्टि से वह देखने लगी और देखने लगी—अपने आपको । हां, उस रमणीय छवि को । न यह शव की साधना थी, न रूप की कोरी कल्पना । नहीं, यह थी जीवित रूप की उपासना, रूप की साकार पूजा । रूप ! रूप !! ऐसा रूप !!! एक अचम्भे से, गम्भीर तन्मयता से उस जीवित रूप को वह देखने लगी । अपने को घुमा-फिरा कर, सामने-पीछे हटा कर वह देखने लगी किन्तु फिर भी अन्तर अतृप्त रह ही गया, हृदय-ग्रन्थि शिथिल हो पड़ी । रूपसी, वह ऐसी रूपसी ? विस्मय-विमूढ़ नीलिमा विचारने लगी—तो यह रूप साम्राज्ञी इतने दिन तक इस छोटे से शरीर में छिप-कर कहां बैठी थी ? और मुझे ही खबर नहीं ? किन्तु जब वह निकलकर सामने आ गई तब उससे परिचय के प्रथम अवसर में जी ऐसा क्यों घबरा रहा है ? रूप रूप ऐसा रूप ? क्या पर्वत-शिखर पर रहने वाली विद्याधरी ऐसी ही सुन्दर हुआ करती है ? जिस रूप की शव-साधना में पृथ्वी आतुर है, जिस रूप के वर्णन से कवि की लेखनी कभी थकती नहीं, क्या वह सौन्दर्य यही है ? ऐसा ही मादकतापूर्ण अपरूप उन्माद, ऐसा ही विस्मयकारी है वह रूप ? सुन्दर है वह, वर्णनातीत सुन्दरी । नीलिमा विह्वल हो कर विचारने लगी—किन्तु इस रूप को लेकर मैं क्या करूंगी ?

अरे, कौन-से काम में आवेगा यह रूप ? यदि कविता को यह रूप मिल जाता तो काम में आता। उसकी शादी किसी राजा से हो जाती किन्तु हुआ उसका उल्टा। कविता कुत्सित नहीं तो सुन्दरी भी नहीं है। और मैं ? किन्तु इस रूप को लेकर मैं क्या करूँ ? नीलिमा का जी जाने कैसा कर उठा। एक अनास्वादित, अतृप्त आकांक्षा, जाने कैसी कल्पना, एक हाहाकार ने उसके शरीर की नसों को त्रस्त, व्यस्त, मथित कर डाला। जमीन पर नीलिमा औंधी गिर पड़ी और सिसक-सिसक कर रोने लगी।

'आज रोटी न बनेगी क्या ? लड़की अभी भूख-भूख चिल्लाती आती होगी।'—हरमोहिनी ने बाहर से पुकारकर कहा। किन्तु जब उत्तर न मिला तब द्वार पर से उसने झाँका। बोली—'दिन पर दिन तू अन्धेर कर रही है नीला, अभी सोने की कौन-सी जरूरत पड़ गई ?'

'सोना भी क्या अपराध है ? इस घर की क्या मैं महरी, महराजिन हूँ, जो रोज मुझे ही रोटी बनानी पड़ेगी ? कवि रोटी नहीं बना सकती क्या ?'

हरमोहिनी नरम पड़ गई—'वह अभी लड़की है बेटी, स्कूल से लौटकर थक जाती है ! जबरन उसे बाहर भेजा, वह जाती कहाँ थी ? कहने लगी, पढ़ने को बहुत है। मैंने कहा—इससे स्वास्थ्य बिगड़ जावेगा, ज़रा घूम-फिर आओ, बाहर की हवा अच्छी होती है।'

'वह पढ़ती है तो इससे मुझे क्या ? पढ़ेगी तो अपने लिए। बड़े घर में ब्याह हो जायेगा, मोटर पर घूमती फिरेगी। क्यों—

क्यों मैं उसके कपड़ों में साबुन लगाऊँ, बासन माजूं, रोटी बनाऊँ ? किस लिए मैं यह सब करूँ ? क्या मेरा स्वास्थ्य न बिगड़ेगा ? अपने को विदुषी समझती है, जरा-सी लड़की, सबके सामने मेरा अपमान करती है। मुझे आज क्या न कहा ?'—हाथ से मुंह ढाँककर नीलिमा रोने लगी।

व्यस्त होकर हरमोहिनी ने उसे हृदय से लगा लिया। 'जैसा अदृष्ट लेकर आई थी, क्या करती मैं और क्या करेगी तू। तुम्हारा जो कुछ होना था सो हो गया, अब छोटी बहन की भलाई देखो, चुप रहो, चुप रहो, ऐसे समय कहीं कोई रोता है ? अकल्याण होगा।'

'मेरा अब कल्याण-अकल्याण क्या होगा माँ !'

उसके आँसू पोंछकर, समझा-बुझाकर हरमोहिनी ने चूल्हा सुलगाया।

: ३ :

गोमती नदी के किनारे, वृक्ष-लता से घिरा, मजिस्ट्रेट सुकान्त चटर्जी का धूसर रंग का बँगला स्वप्नलोक-सा प्रतीत हो रहा था। सामने लान, एक ओर गोमती का कल-गान और पीछे फल का उद्यान, पुराने वट के वृक्ष। वट की लम्बी जटाओं में कितनी ही विचित्र वर्ण की चिड़ियाँ झूला झूलती रहतीं और तब वट स्थिर हो रहता, मानो स्तब्ध दृष्टि से उस क्रीड़ा को देखता। शायद पहले जन्म की बात उसे स्मरण हो

आती या नहीं भी होती। लेकिन उस क्रीड़ा में कदाचित् वह भी सम्मिलित होना चाहता, पक्षी की आत्मा में समा जाना चाहता या अपने वृद्धत्व को उन फुर्तीले पक्षियों में बाँट देना चाहता। कौन जाने? कभी इतने जोर से वह चिल्ला उठता कि छोटी चिड़ियाँ फुर्र से उड़ जातीं। कभी दूर खड़ी मजिस्ट्रेट साहब की भ्रातुष्पुत्री पपीहरा उस रंग, कौतुक को देखकर ताली बजा देती, खुशी से मचल-सी पड़ती।

दिन ढल चुका था। वट के नीचे एक सफ़ेद घोड़े पर से श्यामांगी तरुणी उतर पड़ी, वह पुकारने लगी—'भगवानदीन!'

पुराना भृत्य दौड़ा हुआ आया—'टाइगर को मैं बाँध देता हूँ।'

रेशमी रूमाल से पसीना पोंछकर तरुणी हँसी—'तुम इससे हार जाओगे भगवानदीन। घोड़ा नहीं यह शेर है। साईस के सिवा दूसरे को पास नहीं आने देता।'

'बिल्कुल ठीक बात है! याद है न बाई, साहब पहले पहल जब टाइगर पर चढ़े थे? उस बात की याद से तो मेरे रोएँ खड़े हो जाते हैं। साहब की जान मुश्किल से बची। साहब हैरान हो गये, बोले, इसे अभी निकाल दो। पर तुमने न जाने इस पर कौन-सी माया कर दी। कैसा मन्तर फूँक दिया। वह तो तुम्हारे पास कुत्ते का पिल्ला हो रहा है।'

'टाइगर मुझे चाहता है, भगवानदीन। वह जानता है कि मैं उसे कितना चाहती हूँ। घोड़े सब समझते हैं।'

'कहीं जानवर भी ममता को पहचान सका है बाई?'—नौकर हँस पड़ा।

'तुम हँसते हो ? जानवर हमसे ज्यादा समझदार होते हैं। जानते भी हो कुछ ? वह अधिक अनुभवी होते हैं। हो क्यों न, उसके भी तो प्राण हैं। जैसे हमारे हैं, ठीक उसी तरह। स्नेह, प्रेम के अनुभव की शक्ति उसमें है। हमारे पास वह गूँगे-से लगते हैं तो क्या हुआ। अपनी भाषा में वे पंडित होते हैं। हम देखते हैं कि जानवर बात नहीं कर सकते, किन्तु ज़रा ध्यान से उन्हें देखो तो समझ सकोगे कि वह कैसे भाषामय हैं, किन्तु जब हम ही न समझ सकें तो वह क्या करें ? बेचारे असहाय प्राणी !'—परम आदर से पपीहरा अश्व-कण्ठ से लिपट गई।

भगवानदीन पुलक-मुग्ध दृष्टि से उस दृश्य को देखने लगा।

पपीहरा हटी। जमीन पर से सोने की मूठ लगी चाबुक उठा ली। फिर पूछा—'साईस क्या अभी अच्छा नहीं हुआ ?'

'अच्छा है, शायद कल काम पर आवे।'

'अच्छा तो अब 'टार्च' लेकर मेरे साथ चलो। अस्तबल में इसे बाँध दूँ।'

वे दोनों चल पड़े।

नाम तो उसका पपीहरा था, परन्तु लोग पुकारते थे पिया कहकर।

पिया अस्तबल से लौटी तो सीधे ड्राइंग-रूम में जाकर कोच पर लेट रही। दास-दासी दौड़े। 'इलेक्ट्रिक फैन' खोल दिया गया। कोई दासी जूते मोजे उतारने में लगी, कोई सिर का पसीना पोंछने लगी।

एक ने व्यस्त होकर पूछा—'चाय ले आऊँ ?'

'नहीं, काका कहाँ है ?'

'कमरे में।'

'अकेले हैं ?'

'जी नहीं।'

'कौन है ?'

दासी कुछ इतस्ततः कर बोली—'मिसेज शापुरजी।'

दासी जानती थी कि मिसेज़ शापुरजी को पिया बिल्कुल पसन्द नहीं करती।

पिया उठकर बैठ गई। विरक्ति, विराग से उसके मुँह की रेखाएँ कुञ्चित हुईं। कहा—'तुम लोग जाओ।'

'यमुना बाई को बुला दूं ?' डरते-डरते उसने पूछा।

'नहीं, कहती तो हूँ, चली जाओ।'

दासी चुपचाप खड़ी रह गई। कालेज से लौटकर उस दिन पिया ने जलपान न किया था, किन्तु उस बात को कहने का साहस दासी में था नहीं, कौन जाने यदि रूठ जावे ? उस घर के नूतन और पुरातन दासी-चाकर प्रभु की प्रिय भ्रातुष्पुत्री के जिद्दी स्वभाव से भली भाँति परिचित थे। तुच्छ एक कारण से लड़की किस पर कब रूठ बैठे और किस पर अकारण सन्तुष्ट होकर पुरस्कार दे डाले, इस बात को कोई नहीं कह सकता था। उस घर में गृह-स्वामी से अधिक था इस लड़की के सन्तोष-असन्तोष का मूल्य।

दास-दासी, पितृ-मातृहीन भतीजी एवं स्वयं आप। बस सुकान्त चटर्जी की गृहस्थी इतनी ही थी। इनको पत्नी-वियोग बहुत पहले हो चुका था; आठ वर्ष की लड़की पपीहरा को

उन्होंने अपने रिक्त अन्तर की बुभुक्षित ममता-स्नेह की छाया में ढाँक लिया था। पिया के बिना उनके दिन नहीं कटते। लड़की के लिये एक बार शायद वह स्वर्ग के चाँद को लाने के लिए भी दौड़ते।

सुकान्त की बड़ी बहन अत्यन्त आशा लगाये बैठी थीं कि निःसन्तान भ्राता उनके पुत्र को सम्पत्ति का प्रभु बनावेगा। किन्तु जब हो गया उसका उल्टा, तब वह देश से लड़के के साथ दौड़ी आईं। और देख-सुनकर अपना सिर पीट लिया। सुकान्त ने साफ-साफ कह दिया, 'मेरी लड़की पिया है, वही सब कुछ की अधिकारिणी होगी। मैं तुम्हारी सहायता किया करूँगा।' उसी दिन बहन लौट गई थीं। तब से कभी नहीं आईं। न सहायता ली। परन्तु कन्या यमुना को रोक न सकीं! वह चार-छः महीने में जरूर चली आती। मामा एवं पिया के लिए प्राण देती थी। उसका विवाह सुकान्त ने कर दिया था। जमाई विभूति ज़मींदार था। सुकान्त स्वयं भी ज़मींदार थे—यद्यपि वह रहते थे शहर में। ज़मींदारी नायब-गुमास्ते देखते।

दासी को खड़ी देखकर पिया ने पूछा—'खड़ी क्यों हो?'

'जलपान ले आऊँ'—वह धीरे से बोली।

'भूख नहीं है। तुम जाओ।'

दासी चली गई। अनमनी-सी पिया उठकर भीतर जाने को हुई। द्वार के परदे को हिलते देखकर बैठ गई। पूछा—'कौन है?'

इस बार परदा ज़रा हटा और एक सुन्दरी स्त्री का मुख साफ निकल आया।

पिया खिलखिला पड़ी—'दीदी तुम हो, वहाँ क्यों खड़ी हो? चली क्यों नहीं आतीं? कोई नहीं है।'

स्त्री वहां से हिली भी नहीं। बहुत धीरे कहने लगी—'भीतर चली आ पिया, बैठक में मैं आऊँ कैसे? अभी कोई महाशय आ जायेंगे।'

'नहीं बहन, तू चली आ। मुझ में शक्ति नहीं है।'

'क्यों, क्या हो गया?'

'घोड़े पर से गिर पड़ी।'

'और मुझे खबर नहीं। ज्यादा चोट तो नहीं लगी? देखें!'

यों कहती उद्विग्न मुख से स्थूलांगी सुन्दरी युवती ने कमरे में प्रवेश किया।

'कहां लगी है?'—यमुना ने पूछा।

'बहुत दर्द है, धीरे से देख लो।'

'अरे घुटना तो फूल गया है। यहीं लगी है न?'

पिया बहन से लिपटकर हँसने लगी।

'हँसती क्यों है? चल हट, यह सब तेरी बनाई बातें हैं कैसी झूठी है। मैं तो डर गई कि या ईश्वर, कहीं ज्यादा चोट तो नहीं लगी? बड़ी नटखट है तू, झूठी।'

'यदि झूठ न बोलती तो तुम यहाँ कब आने वाली थीं?'

पिया की फुआ की लड़की यमुना कुछ दिन के लिए मामा के घर आई थी।

'अब जाती हूँ पिऊ, कोई आ जावेगा।'

'आने दे, इससे क्या? तू बड़ी डरपोक है दीदी! जैसे हम

हैं वैसे आने वाले। आखिर वे भी तो मनुष्य ही हैं न ? आजकल भला कोई परदा भी करता है ?'

'बहन, कभी मैं भी पैदल कालेज जाती थी। इसी कमरे में बैठकर कितने महाशयों से तर्क-वितर्क किया करती थी। मामा के साथ टी-पार्टी डिनर में जाया करती थी। मर्दों के साथ एक टेबिल पर भोजन करती थी।'

'तुम दीदी—तुम, तुम ? सच कहती हो! सबके सामने निकलती थीं तुम ?'—विस्मय से पिया के नेत्र स्तब्ध हो रहे।

'हाँ पिया, मैं। वे दिन खुशी से हरे रहते थे।'

'उसके बाद ?'—एक तन्द्रा के भीतर से पिया ने पूछा।

'जाने दे पिया उन बातों को।'

'कहो न दीदी।'

'कहूंगी, भीतर चलो। वे आते होंगे!'

'जीजा यदि आवें तो क्या हुआ ? तुम्हें यहाँ बैठी देखकर वह प्रसन्न होंगे।'

'बात ऐसी नहीं है!'

'ऐसी नहीं है ? तो कैसी है ? सच कह रही हो ?'

'तुम से झूठ कैसे कहूं!'

अत्यन्त विस्मय से पिया ने कहा—'जीजाजी सदा पर्दा के विरुद्ध बड़ी-बड़ी बातें कहा करते हैं। तुम्हारी दीदी किसी से मिलना पसन्द नहीं करतीं। उनका कहना है, केवल इसी कारण से तुमसे उनकी अनबन हो जाया करती है।'

यमुना चुप रही। विभूति उसका पति था, पति के विरुद्ध वह कहती—क्या और कैसे ?

'दीदी !'

पिया की पुकार से वह चौंकी—'हाँ।'

'कहूँ मैं जीजा से कि वह ऐसा झूठ क्यों कहते हैं ?'

'ऐसा मत करना पिया। शायद यहाँ पर वह चुप रहें। नहीं समझ सकती हो बहन कि पीछे इस छोटी-सी बात के लिए मुझे कैसी लांछना मिलेगी।'

विस्मय से पिया निहारने लगी।

'ऐसा मत कहना, यदि कह दोगी तो घर में रहना मेरे लिए कठिन हो जावेगा। सास भी हाथ धोकर पीछे पड़ जायगी।'

'ऐसा अत्याचार तुम सहा करती हो ? इस अत्याचार के विरुद्ध क्या ज़रा कुछ बोल भी नहीं सकती हो ?'

'कुछ नहीं—कुछ नहीं। करने और कहने-सुनने के लिये तो कुछ भी नहीं है पिया !'

कुछ कहने जाकर पिया चुप हो गई, अचानक उसकी दृष्टि पड़ी विभूति पर। विभूति का मुँह काला पड़ गया। क्यों ? शायद पत्नी को बैठक में बैठी देखकर या यों ही, परन्तु फिर भी वह हँसा। हँसने के व्यर्थ प्रयास से मुख की रेखाओं को कुत्सित कर फिर भी वह हँसा—'बड़े भाग्य से तुम्हारी बहन का दर्शन आज बाहर के कमरे में मिल गया पिया ! तुम्हारी प्रशंसा किये बिना जी नहीं मानता, फिर यों कहो कि बहन को भी अपनी बगल में खैंच लाई हो, फिर भी शंका है, बाहर की हवा उन्हें शायद ही सहन हो।'

'घबराइये नहीं आप। किसी के आने के पहले ही वह अपने जेल में लौट जायेंगी। मैं जबरन उन्हें लिवा लाई।

चिन्ता न करें, मेरे चाहने पर भी वह बाहर की हवा में न आवेंगी।'—तीखे स्वर से पीया ने उत्तर दिया।

'यह सब तुम क्या कह रही हो पिया ?'

'मैं किसी से मिथ्या तर्क-वितर्क नहीं कर सकती।'—पिया ऐसी रूठी कि मुँह फेर कर बैठ गई।

वाद-विवाद से उन दोनों को बचा दिया उस घर के प्रभु ने, वहाँ पहुँच कर। दोहरे वदन के लम्बे पुरुष, सूट बूट परिहित, स्त्रियों जैसा सुकुमार मुख, अर्धवयस वाले सुकान्त चटर्जी के पीछे-पीछे कमरे में प्रवेश किया एक पारसी नारी ने। उसके आगमन से घर की वायु सेएट की सुगन्ध से सुगन्धित हो गई।

'कब लौटी, पिया बेटी ?' स्नेह-तरल स्वर से सुकान्त ने पूछा।

काका को देखकर पिया फूल-सी खिल पड़ी—'जाने कितनी देर से तुम नहीं थे।'

पारसी स्त्री बोली—'प्रायः यहाँ आकर लौट जाती हूँ, पिया ! तू तो पढ़ने और घोड़े के पीछे मौसी को भूल गई। मेरा जी नहीं मानता। आज अड़ गई कि पपीहरा से मिलकर लौटूँगी। दुबली दिखती हो पिया !'

किन्तु जिसके लिए यह सहानुभूति, उद्वेग था उसका चेहरा विरक्ति से वक्र हो रहा था। बस इस अयथा सहानुभूति, बिना कारण उद्वेग और मौखिक व्यथा दिखलाने के कारण ही तो मिसेज शापुरजी को पिया पसन्द नहीं कर सकती थी।

मिसेज़ शापुरजी अधिक चिन्तित-सी दिखने लगीं, सुकान्त

से बोलीं—'मिस्टर चटर्जी, अभी से 'केयर' लें, लड़की दिन पर दिन सूख रही है।'

'कैसी मुश्किल है। रोग कैसा? दिन-दिन तो मोटी हो रही हूँ मौसी! तुम निश्चिन्त रहो, मैं अच्छी हूँ। और यदि स्वास्थ्य बिगड़ता तो काका उसे पहले जान लेते।'—पिया ने क्रोध, बिरक्ति को दबाना तो सीखा ही न था, फिर ऐसा कहने के सिवा वह करती क्या।

मिसेज़ शापुरजी का चेहरा पीला पड़ गया।

'काका, "टाइगर" अब बिल्ली जैसा सीधा हो गया है, अब चढ़ना तुम उस पर।'

पिया के निकट बैठकर परम आदर से सुकान्त उसके बालों को सुलझाने लगे—'चढ़ूँगा बिटिया। जानते हो विभूति उस दुर्दान्त घोड़े को पिया ने कुत्ते जैसा वश में कर लिया है। मैं तो उसके पास जाते डरता था।'

'फिर लड़की भी कैसी है मिस्टर चटर्जी, घोड़े की कौन कहे, शेर भी उससे डरेगा। उस दिन इसने एक सोलजर की चाबुक से खबर ली। और एक दिन इसने हमें शराबी के हाथ से बचाया।'—उत्तर दिया मिसेज़ शापुरजी ने।

द्वार के बाहर से आलोक और रमेश का स्वर सुन पड़ा—'दो मिनट ठहरिए मिसेज़ शापुरजी, ऐसी 'इन्टरेस्टिंग' बातों में हम भी भाग लेना चाहते हैं।'

'नहीं-नहीं आप दोनों भी आ जाइए।'—हँसकर मिसेज़ शापुरजी बोलीं।

कुर्सी खींचकर दोनों बैठ गये।

आलोक ने कहा—'ठहरिए, ज़रा सिगार सुलगा लूँ, नहीं तो मज़ा न आयेगा'—सिगार-केस खोलकर उसने सुकान्त की ओर बढ़ा दिया और रमेश तथा विभूति को दिया। सब एक-एक सिगार उठाते गये और धन्यवाद देते गये।

'अब कहिए मिसेज़ शापुरजी।'—आलोक ने कहा।

'मौसी की बातों में आप पड़े हैं! मौसी यों ही कह रही थीं।'—लज्जित हास्य से पिया बोली।

'वे नहीं कहतीं तो कहने के लिए मैं जो तैयार बैठा हूँ।'—सुकान्त मुस्करा रहे थे।

'अरे तुम भी? जाओ—मैं तुमसे कुट्टी कर लूँगी काका!'

मिसेज़ शापुरजी कब चुप रहनेवाली थीं? कहने लगीं—'उस दिन बेटी के साथ मैं पार्क में घूमने चली गई। घर लौटने में सन्ध्या हो गई। आप तो जानते हैं कि वहां का रास्ता कैसा सूना रहता है और दोनों ओर झाड़ी-झुरमुट। रास्ते में दो शराबी मिल गये। हम भागी-भागी चली आ रही थीं, परन्तु उन बदमाशों ने रोक ही तो लिया! लगे वह अनाप-शनाप बकने। मारे डर के हम माँ-बेटी की बुरी दशा हो गई, किन्तु परमात्मा को कब यह बातें मंज़ूर हो सकती हैं, घोड़े पर सवार पिया पहुँच ही तो गई। वह घर लौट रही थी। मिस्टर चौधरी, अपनी आँखों न देखने से वह सीन शायद ही समझ में आवे। मैं कह नहीं सकती कि क्या हुआ, हाँ इतना देख रही थी कि पपीहरा का चाबुक घूम रहा था; और फिर कैसा, बिजली-सा। कुछ देर के बाद जब पिया मेरे पास आकर खड़ी हो गई तो देखा एक पड़ा कराह रहा था, दूसरा भाग गया था। यदि

उस दिन पपीहरा न पहुँचती तो न जाने हमारी क्या दुर्दशा हो जाती ।'

प्रत्येक श्रोता के नेत्र में प्रशंसा व्याप-सी गई और पिया का स्वास्थ्य-पूर्ण शरीर लज्जा से संकुचित हो गया ।

: ५ :

गोमय-लिप्त घर-आँगन धूप में चमक रहे थे । दालान के एक ओर मँजे बासन रखे थे । आँगन में वेदी के नीचे कुछ कपड़े सूख रहे थे । काम-काज से निपटकर नीलिमा वेदी के नीचे बैठी थी—अलसानी-सी । घर में अनाज का दाना भी नहीं था—फिर वह करती क्या ? कुछ दिनों से एक बेला आहार पर उनके दिन कट रहे थे । किन्तु आज तो कहीं से कुछ नहीं मिल सका, मुहल्ले-पड़ोसवालों ने साफ कह दिया—'नित के अभाव को हम पूरा नहीं कर सकते हैं ।' कई दिन से नीलिमा एक प्रकार उपवासी थी । कविता को भर पेट भोजन करा देती । माता और वह पानी पीकर पड़ रहतीं । आज उन दोनों माँ-बेटी का तो एकादशी का उपवास है, भोजन तो कविता के लिए चाहिए न ।

भूख-प्यास से नीलिमा का शरीर शिथिल पड़ रहा था, उसमें उठने की शक्ति थी नहीं । वहीं आँचल बिछाकर लेट रही ।

घर लौटकर हरमोहिनी की दृष्टि सर्वप्रथम पड़ गई कन्या

घर। क्रोध से वह बल-सी पड़ीं। उनके वस्त्र के छोर में दो आलू और थोड़े से चावल बँधे थे। पड़ोसी के घर से क़र्ज़-स्वरूप लाई थीं। आते-आते विचार रही थीं—चूल्हा जलता होगा, नीलिमा से कह दूँगी, पहले इसे चढ़ा दो। दिन इतना चढ़ गया, कविता भूखी है, कम-से-कम वह तो भोजन कर लेगी। हम विधवाओं को क्या? चाहे खा लें, चाहे भूखे रहें। फिर आज एकादशी का दिन ठहरा, हम दोनों का निर्जला उपवास है।

परन्तु घर में अपने विचार के विपरीत कार्य होते देखकर उन्हें क्रोध चढ़ आया। पुकारा—'नीलिमा, राजकन्या-सी आराम' से तो सो रही हो, किसी के खाने-पीने की कुछ फिकर है?'

'जरा-सा लेट गई थी माँ, हाथ-पैर दर्द कर रहे हैं। तुम चिढ़ती क्यों हो। घर में कुछ हो तब तो बनाऊँ?'

'दिन-दोपहरी में नींद भी आ जाती है! उस पर आँगन में लेटना, जितना है, सब कुछ कुलक्षण। बस ऐसे ही अत्याचार, व्यभिचार से सब कुछ चाटकर बैठ गई हो न। अपना सब गया, अब रात-दिन आँसू बहाकर छोटी बहन के अकल्याण की चेष्टा।'

मुँहजोर नीलिमा गूँगी-सी माँ का मुँह निहारने लगी, मानो उसका अन्तर उन अप्रिय रूढ़ शब्दों के निकट मूक हो गया हो।

'अब उठकर भात बनाओगी या राजरानी-सी पड़ी रहोगी? कविता के लिए कुछ बनाना है या नहीं? क्या उसे भी अपने साथ एकादशी कराओगी?'

'मैं ही तो हूँ इस घर की छूत। कहती तो जाती हूँ, विमला

बुआ के साथ मुझे शहर जाने दो। सो न जाने देंगी। यहाँ रहो और इनकी विदुषी लड़की की सेवा करो। नहीं करती मैं कुछ, कर लो जो तुम्हारे जी में आवे। मैं किसी की क्रीत-दासी नहीं हूँ। चौबीस घण्टे ऐसी बातें नहीं सह सकती। क्या मैंने कह दिया था कि ईश्वर, मुझे तुम विधवा कर दो और मैं भूखी-प्यासी काम करती रहूँ ? जो तुम सदा मुझे ताना दिया करती हो ? कल मैं विमला बुआ के साथ शहर चली न जाऊँ तो कहना ? हाथ-पैर हैं, काम कर लूँगी; और सुख से दो रोटी भी मिल जायेंगी।'

मुँह से चाहे कुछ भी कहें किन्तु इन बातों को सुनकर हरमोहिनी का मातृ-हृदय विकल हो पड़ा। साथ-ही-साथ एक शंका भी हो आई। सुन्दरी-युवती लड़की कहीं कुछ कर न बैठे; तो वंश में कलंक लग जायगा।

बोली, और वह अत्यन्त कोमलता के साथ कहने लगी—'तुम दोनों को सुख-शान्ति में रखने की क्या मेरी इच्छा नहीं होती ? क्या करूँ बेटी, ईश्वर ने मुझे दुखिया बना ही दिया है।'

'ईश्वर ने नहीं, हम मनुष्यों ने ही अपना अधिकार अपने आप त्याग दिया है।'—नीलिमा गरजकर बोली।

'कहती क्या है ?'

'नहीं तो क्या ? भद्र घर के सम्मान ने ही तो हमें बेकाम बना दिया है। यदि मैं नाऊ, धीवर, चमार, मेहतर के घर पैदा हुई होती तो बनी-मजूरी कर पेट भर भोजन तो कर लेती। कोई बुरा कहने को न होता। मजूरी करने में उन्हें लज्जा शर्म नहीं है और न वंश-मर्यादा के लिए अनाहार रहना

पड़ता है। यहाँ तो हाथ पैर रहते हुए भी उसे काटकर बैठो। नियम पालो, एकादशी करो, गहने कपड़े न पहनो।'

'ऐसी बातें तुमसे किसने कहीं नीला ? मेरी नीला यह सब क्या जाने !' आकुल विस्मय से माँ ने कहा।

'कहेगा कौन ! ये बातें सब लोग जानते हैं, विमला बुआ के पास बैठो तो ज़रा जाकर। बेचारी बड़ी अच्छी हैं। उनसे मैंने बहुत-सी बातें जान लीं।'

'वहाँ मत जाना नीली, वह अच्छी नहीं है। गँवारिन कहीं की, क्या जाने ब्राह्मण के घर जन्म लेना कौन-सी सुकृति है। उस जन्म में तुमने तपस्या की थी, तभी ब्राह्मण के घर आई हो। नहीं, उसके पास मत बैठना। क्या जाने वह नीच स्त्री ब्राह्मण का महत्त्व !'

नीलिमा चुप रही। इन बातों का प्रतिवाद वह न कर सकी। कदाचित् जन्मगत संस्कार ने उसे प्रतिवाद करने से रोका हो या विद्याहीनता ने ही। जानकारी का अभाव हो या माता की बात की सत्यता ही हो !

'उस दिन गोविन्द कह रहा था—'ज़मींदार सुकान्त इस वर्ष दुर्गापूजा में गाँव आ रहे हैं। उनके घर में कोई बड़ी-बूढ़ी है नहीं। काम करने की ज़रूरत है। गोविन्द गृहस्थ घर की बूढ़ी सयानी को ढूँढ़ता फिर रहा है। देखें क्या होता है।'

'अच्छा, ऐसा ? तो यों कहो कि अपमान, दुःख की चरम-सीमा में अब हमें पहुँचना है और हमें ज़मींदार के घर दासी बनना पड़ेगा, बात यही है न ?'

अभी-अभी जो नीलिमा स्वाधीन जीविका के लिए उतावली

हो रही थी, ईंट-गारा ढोने में भी गौरव समझ रही थी एवं उच्च जाति में जन्म लेना एक अभिशाप समझ रही थी, उसी नीलिमा के द्वार पर जब स्वाधीन जीविका की पुकार पहुँची तो वह उससे विमुख हो बैठी और आत्म-सम्मान ने रक्त-नेत्र खोले।

'बे-समझ की—कैसी बातें करती है। क्या यह कोई बारिन महरी का काम है ? रोटी रसोइया बनाता है। दास-दासी पचासों हैं। मैं तो रहूँगी मालकिन की भाँति, सब काम की व्यवस्था करना। दुर्गापूजा भी होगी, बिना कोई सयानी स्त्री के यह सब करेगा कौन ? क्या यह अपमान का काम है ? ज़मींदार शहर में अंग्रेज़ी कायदे से रहते हैं, क्या जानें बेचारे हिन्दू के रहन-सहन को। गाँव में वह हिन्दू-धर्म से रहना चाहते हैं। कौन ज़्यादा दिन रहेंगे। ज़्यादा-से-ज़्यादा दो-तीन महीने।'

'करना है तो तुम करो जाकर। महरी बनो, महराजिन बनो, मुझसे यह सब कुछ न हो सकेगा और न मैं इस तरह उपवास कर प्राण ही दे सकती हूँ। अभी से तुम्हें जता रही हूँ।'

व्यथित साँस हरमोहिनी के हृदय में मँडराने लगी। बोली—'नहीं बेटी, मरना है तो मैं मरूँगी। जहाँ तक हो सकेगा तुम दोनों को सुख से रखने की चेष्टा करती रहूँगी। दो दिन और ठहरो। अब उठो, भात बना लो। कवि आती होगी। एक पैसे का तेल ले आती हूँ, आलू बघार देना। वरना उससे खाते न बनेगा।'

नीलिमा की हृदय-ग्रंथि दुःख-व्यथा से निपीड़ित होने लगी। पलभर में जाने कितने प्रश्न अन्तर में भीड़ लगाकर खड़े हो

गये—क्या विधवा केवल अश्रद्धा की पात्री होती है ? विधवा होना क्या उसका अपराध है ? उसी माँ ने क्या मुझे जन्म नहीं दिया, जिसने कविता को दिया है ? फिर ऐसा पार्थक्य क्यों ? क्या लज्जा निवारण के लिए विधवा को वस्त्र का प्रयोजन नहीं है ? यदि है तो उसे वस्त्र क्यों नहीं मिलते और कविता को क्यों मिलते हैं ? मुँह के स्वाद के लिए यदि कवि एक पैसे का तेल भी पा सकती है तो उसके लिए उपवास का विधान क्यों है ? आज के एकादशी उपवास के बाद कल उसे भोजन क्या मिलेगा ? केवल उबाला हुआ साग। मुट्ठी भर चावल भी नहीं। किन्तु क्यों ? इसके बाद नीलिमा और विचार न सकी। आँसू पोंछती रसोई-घर में चली गई।

विरक्त स्वर से माँ बकती, झुँझलाती बाहर चली गई—'मिनट-मिनट में लड़की का मिज़ाज़ बदलता है। रोने की अभी कौन-सी बात आ गई ?'

भात चढ़ाकर नीलिमा अपनी कोठरी में चली गई, भीतर से द्वार बन्द कर लिया। तृषा से उसका कंठ सूखा जा रहा था। देर तक खड़ी और विचारती रही, इसके बाद मिट्टी के घड़े से लोटा भर पानी लिया और एक साँस में पी गई। तृषा शान्ति के साथ-ही-साथ भय ने उसे दबा लिया। काँपती—वह शंकित दृष्टि से चहुँ ओर देखने लगी—एकादशी के दिन उसकी चोरी कहीं किसी ने देख तो नहीं ली ? सहसा खुली खिड़की की ओर दृष्टि पड़ गई। आतंक से नीलिमा सिहर उठी। जरूर किसी ने पानी पीते उसे देख लिया।

धर्म-पुस्तक उसने पढ़ी न थी। अक्षर भी तो नहीं पह-

जानती थी, फिर पढ़ती कैसे ? हाँ, तो पुस्तकों से उसे कोई सम्बन्ध नहीं था। जानती केवल इतना थी कि हिन्दू-विधवा को—निर्जला एकादशी उपवास करना पड़ता है, यदि उस उपवास से प्राण निकल जावें तो जाने दो, परन्तु पानी पीना पाप है। बचपन से इन बातों को वह जानती थी। माँ से और प्रतिवासिनी से ऐसा ही सुना करती थी। और भूलकर भी पानी के निकट नहीं जाती थी। यदि पानी देखने में प्यास लग आवे ? परन्तु—आज इस जाने कैसी सर्वग्रासी तृषा ने उसका धर्म-कर्म सब बिगाड़ दिया।

वह खिड़की की ओर बढ़ी, विचारती जाती थी, यदि किसी ने देख लिया हो तो बस गाँव में रहना मुश्किल हो जायगा। न जाने कैसे-कैसे प्रायश्चित्त करने पड़ें। सब लोग उसके विरुद्ध हो जावेंगे, माता भी। केवल विमला बुआ पक्ष में रहेंगी। वह तो कहती हैं—यह सब कुसंस्कार हैं और कुसंस्कार—आत्मा को पीड़ित करना किसी भी धर्म-पुस्तक में नहीं लिखा है। वकील के जैसे क़ानून रहते हैं, वैसे यह सब भी मनुष्य के बनाये कुछ कानून-मात्र हैं। क्यों और किसलिए ऐसे क़ानून की सृष्टि हुई या उसकी हानि-उपकारिता के विषय में तो उनसे पूछा ही नहीं और न उन्होंने कहा! फिर इसे पूछकर करती क्या ?

एक ओर क़ानून है और दूसरी ओर निषेध, बस उसके लिए इतना जान लेना तो यथेष्ट है न। यों सोचती-विचारती नीलिमा अन्त तक खिड़की पर पहुँच गई। दूर नारियल के नीचे कविता और वकील का लड़का विभाष खड़े थे। नीलिमा की शंका जाती रही, वरन् उसका स्थान ले लिया एक कौतुक

ने। वह छिपकर देखने लगी—उनके मुख की अम्लान हँसी को और नेत्र की स्निग्ध दृष्टि को। नीलिमा आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगी—कैसे वह आनन्द-आशापूर्ण, उद्वेगहीन मुख हैं! दोनों के मुख आशा, आनन्द में चन्द्रमा-से मधुर हो रहे हैं। और मैं? अपने अन्तर की ओर नीलिमा ने दृष्टि फेरी। वह स्तम्भित हो रही। सुख, आशा, आनन्द, उत्साह, अवलम्बन के लिए एक तिनका? नहीं, कुछ भी नहीं है। है मात्र विडम्बित जीवन की लञ्छना-भरी टोकनी और हाहाकार। नहीं-नहीं, खोई हुई अतीत की कोई ऐसी मनोरम स्मृति भी तो नहीं है। अतीत, वर्तमान और भविष्य निष्पेषित हो रहा है। केवल रिक्तता के भीतर से, व्यर्थता से, मात्र अभाव से बहाने के लिए आँसू भी तो नहीं हैं। फिर वह करे क्या, जाय कहाँ? कहाँ—कहाँ?

: ६ :

'अरी नीली, तेरे गोविन्द मामा आये हैं, बैठने के लिए आसन-वासन तो बिछा दे।'—हरमोहिनी ने पुकारा।

आसन बिछाकर नीलिमा ने आगन्तुक को प्रणाम किया। सुकान्त की ज़मींदारी का गोविन्द उच्चपदस्थ कर्मचारी था। अधेड़ उम्र का, गठीली काठी, छोटी और भावहीन आँखें, अधमैली धोती, मिरजई पहने गोविन्द हँस रहा था—'कई बरस से इधर आना नहीं हुआ बिटिया। तुम सबको मैं सदा याद

किया करता हूँ। उस दिन तुम्हारी माँ मिल गई। कहो बहन, क्या ठीक किया?'

गोविन्द हरमोहिनी का कोई आत्मीय नहीं था, केवल ग्राम के नाते एक दूसरे के भाई-बहन लगते थे।

'जब कि तुम कह रहे हो भैया, वह कोई अपमानजनक काम नहीं है, तो मुझे आपत्ति क्या होने लगी?'

हरमोहिनी के उत्तर को सुनकर उच्च स्वर से गोविन्द कहने लगा—'अपमान! कहती क्या हो बहन? घर की मालकिन जैसी रहोगी, देख-रेख करोगी, बस इतना ही। और हमारे जमींदार सुकान्त जैसा सदाशय उदार व्यक्ति आजकल के दिन में दीखता कहाँ है? तुम्हें भी एक महत् का आश्रय मिल जायगा। शायद कविता का विवाह भी वह करवा दें।

कविता भी पहुँच गई, अन्तिम बात उसने सुनी तो पूछने लगी—'किसका व्याह मामा?'

'तेरा!'

अप्रस्तुत कविता ने सिर नीचा कर लिया।

'जमींदार को तुमने कभी देखा है माँ?'—नीलिमा ने पूछा।

'बहुत पहले—एक बार।'—हरमोहिनी बोली।

'मैंने नहीं देखा। इतने दिन के बाद क्यों आ रहे हैं? विशेषकर पूजा के समय कोई काम होगा मामा?'—नीलिमा ने कौतूहल से पूछा।

'काम यों तो कुछ नहीं है। बड़े आदमी का खयाल ही तो है नीली। उनकी भतीजी, और भी कई जने पहाड़ पर जा रहे

हैं। जमींदार साहब मजिस्ट्रेट भी तो हैं न। तीन महीने की छुट्टी ले ली है और गाँव पर ही उनका मन चल पड़ा। दुर्गा-पूजा के समय तक उनकी भतीजी यहाँ आ जावेंगी।' गोविन्द ने कहा।

'उनके घर में और कौन-कौन हैं?' नीलिमा का कौतूहल बढ़ता जा रहा था।

'ज़मींदार विपत्नी हैं। पत्नी-वियोग हुए कोई बीस-बाईस वर्ष हो गये होंगे। विवाह नहीं किया। अवस्था उनकी ज्यादा नहीं है। अपना-अपना विचार तो है। भाई की लड़की पपीहरा को उन्होंने पाला-पोसा है। लोग कहते हैं, पपीहरा विधवा है। बस वही लड़की उनकी आँखों की खुशी, मन का सन्तोष, सब कुछ है। सुना है—बचपन में पिया की शादी उसके पिता ने कर दी थी और उसी दिन लड़का हैज़े से मर गया। इसके थोड़े दिन के भीतर पिया के माँ-बाप को भी हैज़े ने उठा लिया।'

'बेचारी विधवा!'—वेदना, सहानुभूति से नीलिमा का गला भर आया। उसने फिर पूछा—'पपीहरा की अवस्था क्या होगी?'

'तुम्हारी उम्र क्या होगी।'—गोविन्द बोला।

'काका का इतना धन-ऐश्वर्य बेचारी कुछ भोग नहीं कर सकती; है न मामा?'

नीलिमा के उस सरल प्रश्न पर गोविन्द हँस पड़ा—'शहर में रहती है वह, और मजिस्ट्रेट साहब की लड़की है! कालेज में पढ़ती है, घोड़े पर घूमा करती है। भला उसे दुःख किस बात

के लिए हो ! पुनर्विवाह हो जायगा, बस ।'

'विधवा का विवाह ? आश्चर्य, आश्चर्य ! दिन-पर-दिन और भी कैसी विचित्र बातें देखने-सुनने को मिलेंगी । कलयुग है न ? कल्पना नहीं कर सकती हूँ भैया कि स्त्री-जाति घोड़े पर सवार हो सकती है ?'—विस्मय से हरमोहिनी के नेत्र बाहर निकले पड़ रहे थे ।

'बड़े घर में जाने कैसी अद्‌भुत बातें हुआ करती हैं । गाँव में रहती हो, तुम क्या जानो कि शहर की हवा कैसी होती है ?'—गोविन्द ने गम्भीरता से कहा ।

'कलयुग है भैया, तभी ऐसा अनर्थ हो रहा है । पाप के बोझ से पृथ्वी अब लोटना चाहती है ।'—विज्ञ भाव से हरमोहिनी बोली ।

'वह तो होगा ही'—सिर हिलाता हुआ गोविन्द कहने लगा—'ऐसा होने को ही है । पाप, अनाचार, व्यभिचार के भार से पृथ्वी दबी जा रही है । देखती नहीं—देश-का-देश सिर हिलाती हुई पृथ्वी निगल रही है । कह दिया—भूकम्प है । अँग्रेजी मत है । पृथ्वी की क्षुधा का नाम यह रख दिया और हम भी तोते-से रटने लगे 'भूमिकम्प !' कलकत्ते का नाम रख दिया —'केलकटा', हस्तिनापुर का 'डेलही' और ऐसे कितने ही नाम धरते जा रहे हैं । कहाँ का कम्प और कहाँ का पम्प ! अरे भई, बेचारी पृथ्वी पाप के बोझ को कहाँ तक सहे ? उसने खोला मुँह और गप्प से निगल गई, चलो छुट्टी !'

'क्या कहते हैं आप मामा, पृथ्वी क्या कोई प्राणी है, जो

उसे पाप और पुराय की अनुभूति होवे ?' कविता खिलखिला पड़ी।

'अरे लड़की, चुप रह। प्राणी नहीं तो क्या है ? यदि उसमें प्राण का स्पन्दन न रहता, तो इतने जीव जीते कैसे ? प्राण तो है ही, वह माता है न ? देखती नहीं, उसके स्तन से सदा हमारे लिए जीवन निकलता रहता है, धान से लेकर घास तक।'

'उपजाना तो धरती का स्वभाव और गुण है मामा। भूमिकम्प के कई कारण हैं, परन्तु पाप-पुराय से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।'

माता झुँझला पड़ीं—'बड़ी आ गई बूढ़ी, सयानी बनकर ! हट, चुप रह, क्या जाने तू ?'

'अंग्रेज़ी पढ़ाने का फल है।'—नीलिमा ने टोक दिया।

'मत डाँटो। लड़की है, अभी उसे क्या समझ ?'—गोविंद ने कहा।

'लड़की है तो लड़की की तरह रहे, बूढ़ों की बात में क्यों बोलती है ?'—माँ बोली।

'क्योंकि पढ़ी-लिखी है न।'—दबी आवाज़ से नीलिमा ने कहा।

'बच्ची है, उसके कहने का मैं बुरा नहीं मानता। अच्छा, तो अब मैं जा रहा हूँ, तुम लोग तैयार रहना।'

गोविन्द चला गया।

'कहाँ जाना है माँ ?'—कविता ने पूछा।

'ज़मींदार के घर।'

'क्यों—भला ?'

'वहीं' हमें रहना है न !'

'वहाँ हमें रहना है ? परन्तु वहाँ हम क्यों रहेंगी ?' विस्मय कविता के कण्ठ में पछाड़ें खा रहा था ! वह विस्मय गृहिणी को अच्छा न लगा—'इसमें अचम्भे की क्या बात है ? उनकी गृहस्थी मैं सँभालूँगी । सुन तो लिया होगा तुम दोनों ने । गोविन्द कह रहे थे न, उनके घर में गृहिणी नहीं है । हमें तीन कमरे और पलंग आदि मिलेंगे । भोजन भी । केवल हाथ-खर्च के लिए पचास और मिलेंगे । बस !' कविता गम्भीर हो गई, और कुछ न पूछा ।

द्वार पर से विभाप ने पुकारा—'काकी !'

'आओ बेटा, अच्छे हो न ? कब आये ? कितने दिन की छुट्टी है ?'

'आठ दिन की ।'

'आठ दिन की ? उन लोगों से कहते क्यों नहीं कि ज़रा छुट्टी ज्यादा बढ़ा दें, वर्ष में एक बार तो गाँव जाना है—वह भी कुल आठ दिन !'

'मेरे कहने से वह क्यों देने लगे काकी ?'

'ऐसा ? तब तो बड़ा ख़राब है । शहर की सब बातें अनोखी होती हैं ।'

विभाप मुस्कराने लगा ।

'तू हँसता है ? सच कहती हूँ बेटा, शहर की बातें सुन-सुनकर जी जला जाता है । यदि मेरा बस चलता तो दो दिन में सुधार कर देती ।'

'क्या करतीं काकी ?' हँसी से विभाष का पेट फूलने लगा।

'प्रायश्चित्त तो पहले कराती।'

'हम जा रहे हैं विभाष भैया !'—नीलिमा कह उठी।

'कहाँ ?'

इशारे से कन्याद्वय को निषेध कर गृहिणी बोली—'अपने भाई के घर जा रही हूँ, भैया !'

: ७ :

बाहर जाते समय विभूति कहता गया था कि उसे लौटने में देर लगेगी। कारण पूछने पर बोला था—'मित्र के घर निमन्त्रण है। पिया सिनेमा जाने के लिए तैयार होने लगी; परन्तु कुछ देर में उसका मत परिवर्तन हो गया। हठ कर बैठी कि यमुना के बिना जायेगी नहीं। यमुना पड़ गई संकट में—पति से पूछे बिना जाये कैसे ?'

यद्यपि सिनेमा-थियेटर में पत्नी का जाना विभूति को पसन्द नहीं था, परन्तु वहाँ रहते समय उसे बाध्य होकर पत्नी को सिनेमा भेजना पड़ता था। यदि दुनिया में वह किसी से डरता था, तो मामाश्वसुर से।

सोच-विचारकर यमुना ने कहा—'उनसे पूछा नहीं। उनके सामने तुम कुछ न बोलीं।'

'रहने भी दो इन्हें-उन्हें पूछने की ! शादी की है तो मानो मोल ले बैठे हैं। तू दबती जाती है दीदी, तभी तो वह दबाते

जाते हैं। मेरे साथ आज चलना पड़ेगा।'—उत्तप्त स्वर से पिया ने कहा।

'उनसे पूछे बिना चलूँ कैसे ?'—यमुना के एक ओर थी द्विविधा, दूसरी ओर संकोच।

'नहीं पूछा तो क्या फाँसी पर लटका देंगे ?'

'अभी तू नहीं समझ सकती पिया, शादी के बाद समझेगी। पत्नी का भी तो कोई कर्तव्य रहता है न ?'

'बला से। समझो तुम। मैं मर्द से शादी करने की नहीं। बाहर एक और भीतर दूसरे, वह दो प्रकार के होते हैं। मर्द से मैं घृणा करती हूं—आन्तरिक घृणा। उन्हें देख नहीं सकती, सह नहीं सकती। उनके आचार-व्यवहार देख-देखकर मुझे हँसी आ जाती है। तू समझती है दीदी, मैं उस बहुरूपी जाति से शादी करूँगी ?'

'देखा जायेगा पिया! अरी पगली, उस जाति के सिवा हम स्त्रियों को पार लगाने वाला दूसरा है कौन ?' यमुना मुस्कराने लगी।

'पार लगावे वह तुम जैसी भीरु स्त्रियों को। तुम देखना मैं उनसे शादी करने की नहीं।'

'तो क्या किसी स्त्री से शादी करेगी ?'

'हाँ दीदी भाई, मैं तुमसे विवाह करूँगी! खुशी से हमारे दिन कट जाएँगे।'—आदर, सोहाग से वह बहन के गले से लिपट गई। और यमुना ने उसके छोटे माथे को चुम्बनों से भर दिया।

'सच बहन, वह जाति प्रतारक होती है।'—अचानक

यमुना के मुँह से बात तो निकल गई, किन्तु ऐसा लगने लगा कि उन निकले हुए शब्दों के लिए वह अनुतप्त हो रही है। पिया के नेत्र से कुछ भी छिपा न रह सका।

'दीदी भाई, यह प्रतारणा है, गहरी प्रतारणा और अपने ही साथ। सत्य को तुम छिपाना चाहती हो। देख रही हूँ—तुम्हारी आत्मा इससे कैसी दुःखी है, किन्तु फिर भी एक सच्ची बात मुँह से अचानक निकल जाने के लिए तुम पछता रही हो। है न यही बात ?'

'जाने दे इन बातों को। तू भी अच्छी पगली है। चल कहाँ चलती है ?'—यमुना जबरन हँसने लगी।

किन्तु पपीहरा ने हिलने का नाम भी न लिया, फिर चलने की कौन कहे। उपरान्त कहने लगी—'अब मैं कुछ-कुछ समझ रही हूँ। तुम्हें बहुत सहना पड़ता है। विस्मय से विचारती हूँ, विवाह के बाद क्या नारी अपनी आत्ममर्यादा को खो देती है ? क्यों तू अत्याचार सहती है दीदी ?'

'मैं ? अत्याचार कहाँ पिउ ? और यदि है भी तो उसे निर्विवाद कहाँ सहन कर सकती हूँ ? जिस दिन वैसा कर सकूँगी, जिस दिन अपनी सत्ता को भूल सकूँगी'—यमुना विषाद-खिन्न कण्ठ से कहने लगी—'उस दिन—हाँ, उस दिन मुझ-सी सुखी पृथ्वी में और कौन हो सकेगी, पिया ? बस वही तो एक बात है बहन, उस आत्ममर्यादा की अनुभूति से कभी-कभी मैं अस्थिर हो जाती हूँ। आत्माभिमान, आत्ममर्यादा, बहुत कुछ जीवित है न इस हृदय के भीतर। जीवित हैं बस इतना ही। उनमें जीवन का स्पन्दन तीव्र नहीं है, जराग्रस्त वृद्ध-

से पड़े हैं। कभी वह मचल पड़ते हैं तब ज़रा संकट में पड़ जाती हूँ। उन्हें शान्त करने में तेरी बहन को कितनी शक्ति व्यय करनी पड़ती है, यदि इस बात को जानती पिया तू, तो कदाचित् ऐसे प्रश्न को न उठाती।

'एक दिन इसी आत्मसम्मान को लेकर सखी-सहेलियों में कैसा गर्व किया करती थी ; परन्तु आज वही आत्मसम्मान सिर पीटा करता है—इसी छाती में। परिवर्तनशील है मनुष्य का स्वभाव, फिर मैं करती क्या ?'

'इन बातों को मैं नहीं समझती दीदी। मेरे तो विचार से 'सेल्फ रेस्पेक्ट' नारीमात्र को रहना चाहिये। उसके बिना जो जीवन है, वह तो है पशु का जीवन।'

'ठहरो पिया, कहती हूँ—क्या पति से अधिक आत्मसम्मान का मूल्य है ? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता है। वह आत्मसम्मान कैसा भी मूल्यवान, प्रतापी क्यों न हो, किन्तु पति के ऊपर उसका कोई स्थान नहीं है और न वह नारी के प्रेम, श्रद्धा, भक्ति और कर्तव्य को लाँघ सकता है।'

'ऐसा !'

'हाँ, ऐसा। उसमें उतनी शक्ति है कहाँ ?'

'किन्तु मैं कहती हूँ—यह स्वेच्छाचार, अत्याचार को प्रश्रय देना है और है आत्म-हत्या।'

'नहीं। नारी अपने सुख-सन्तोष के लिये दूसरे को दुखी नहीं कर सकती। भूलती क्यों है पिया कि तेरी दीदी उसी हिन्दुस्तान की एक नारी है, जहाँ की वायु आज भी नारी के त्याग, कर्तव्य-निष्ठा और सहनशीलता से निर्मल हो रही है।'

'बस यही तो एक बात है। पुरातन की महिमा-कीर्तन के सिवा और हिन्दुस्तान में रह ही क्या गया है? वह जो पुराने की महिमा—*नारी का त्याग, निःस्वार्थता आदि शब्द हैं,* जिन्हें कि तुम स्त्रियाँ तोते जैसा रट लिया करती हो, वे आज भारत की स्त्रियों का अनिष्ट कर रहे हैं, दासीत्व का पाठ सिखा रहे हैं, उपरान्त मर्द को भी सर्वनाश के मार्ग में खींचे लिये जा रहे हैं। पुरुष जानते हैं कि लाञ्छना, अपमान, अत्याचार आदि को तुम नारी हँसकर सह लोगी। क्यों? उसी पुराने सम्मान को बचाने के लिये, लोक-लज्जा से। किन्तु मैं जोर देकर कह सकती हूँ, त्याग करने की वास्तविक प्रेरणा तुममें है नहीं। यदि वस्तुतः वैसी इच्छा रहती तो पुरातन की दुहाई कभी नहीं देतीं। वास्तविक वैसी प्रवृत्ति प्रशंसनीय के साथ ही साथ श्रद्धेय भी है। किन्तु यह तो नकली है। और इसलिये यह जैसा ही घृणित है, वैसा ही कुत्सित। इस अपने आपकी प्रतारणा को घृणा के सिवा और क्या कहा जा सकता है? तुम देखती नहीं हो दीदी—कि इस प्रतारणा से हम कितने नीचे गिरते जा रहे हैं? अपनी सत्ता मिटाकर सेवा करना इसे नहीं कहा जा सकता; वरन् उस सत्ता को दुर्गन्ध-कूप में ढकेल देना कह सकते हैं। पुरातन के गर्व में मोहित होकर सोच रही हो—बड़ा त्याग, एकनिष्ठ कर्तव्य कर रही हो, परन्तु इसे नहीं समझ रही हो अपनी सन्तान के लिए, नारी जाति के लिए। तुम्हारे पीछे—रह जायेगा, हाँ,—परिणाम-स्वरूप बचेगा—वही पुराने की महिमा की झूठी स्तव-स्तुति, मिथ्या, सराहनीय गर्व। न कभी वास्तव की खोज होगी और न नूतन सृष्टि की प्रेरणा होगी।

मैं तो पहली बात यह जानती हूँ कि अपनी सत्ता और आत्म-मर्यादा को किसी के लिए भी छोटा नहीं करूँगी।'

'बहुत कुछ बक गई पिया। मैं पूछती हूँ, अपने आत्मसम्मान की रक्षा के लिए पत्नी पति के निकट से चली गई;—स्त्री-धर्म त्याग, कर्तव्य, स्नेह, प्रेम इन सबको छोड़ दो।—हाँ, तो वह चली गई। फिर खायेगी क्या, बच्चों को पालेगी कैसे? सोचो, किसी स्त्री के नैहर में पिता, भाई आदि कोई नहीं है तो अकेली जवान स्त्री जायेगी कहाँ? ऐसी स्त्रियाँ बहुत थोड़ी हैं जो कि अपने आपका प्रतिपालन कर सकती हैं। इस बात को तो ज़रा विचारो!'

'आन्तरिक इच्छा एक ऐसी चीज होती है कि उसके बल पर हम सब काम कर सकती हैं! नीच जाति की स्त्री अपने आपको कैसे पाल लेती हैं? नहीं, वरन् बाल-बच्चे भी पालती हैं। स्वयं उपार्जन करती हैं। किसी दूसरे देश की बातें नहीं कहती, हमारे ही देश में ऐसा हुआ करता है। स्वाधीन तो वही है, जो अपनी जीविका उपार्जन कर सके। दासवृत्ति को छोड़कर अपने-आप पर निर्भर करना भी सीखना है। क्या हमारा पातिव्रत इतना छोटा, ऐसा अशक्त है कि घर के बाहर जाने ही से वह लुट जायगा!'

'उन्हें अभ्यास है। बनी-मजूरी करने में न उन्हें लज्जा है न शर्म। दूसरी बात, वंश-अभिमान को हम छोड़ें कैसे? चाहे भूखे-प्यासे घर में प्राण भले ही दे दें; किन्तु उस वंश की मर्यादा को हम कैसे छोड़ सकते हैं, अपने पूर्व पुरुषों के नाम कैसे डुबा सकते हैं? तीसरी बात, हमारा पातिव्रत ऐसा बड़ा, ऐसा

महान् है कि उसके बल पर हम बहुत कुछ सह सकते हैं, और सहते भी हैं। केवल कर नहीं सकते उसका अपमान, उसका अनादर; कर नहीं सकते हम पति का अपमान। वही तो एक बात है पिया, उसी पातिव्रत के बल पर ही न हम अँधेरी रात में सूर्यकिरण का आभास पाते हैं, अत्याचार को आशीर्वाद समझते हैं, और दैन्य अभाव को वरदान समझते हैं। दुनिया जब तक है, तब तक हमारा पातिव्रत भी अक्षुण्ण, अम्लान और उज्ज्वल है!'

पपीहरा जोर से हँस पड़ी—'भूल, भूल केवल मोह! उस मिथ्या, अभिशप्त पातिव्रत का विनाश एक दिन हो जायगा और नारी की वास्तविक शक्ति एक दिन चमक उठेगी, अपने यथार्थ रूप को वह देख पायेगी। अपने-आप पर निर्भर रहना वह सीखेगी। पहचानेगी आत्मसम्मान को, पहचानेगी अपनी शक्ति को। क्रीतदासी, विनीत सेविका का उस दिन अवसान हो जायगा। रहेगी मात्र नर की शक्ति कल्याणमयी नारी।

'चुप भी रह पिया। न जाने किस देवता ने तुझे स्त्री बना दिया है। जाना है तुमने केवल दुनिया का व्यंग करना और चाबुक संभालना। पूछती हूँ, यदि तू निडर है तो दिन-रात रक्षा कवच-सा चाबुक अपने साथ क्यों रखती है?'

'वक्त पर काम आने के लिए। कभी समय आ पड़ा तो लगा दिये—दो-चार।' परम गम्भीर मुख से पपीहरा ने उत्तर दिया।

उसके कहने की रीति से यमुना खिलखिला पड़ी।

'हँसी क्यों दीदी?'

'पहाड़ी लड़की है तू । न डर है, न संकोच, न द्विविधा ।'

'औरत-मर्द सबको साहसी होना चाहिए । प्रत्येक को व्यायाम करना, लाठी चलाना सीखना चाहिए ।'

'इसीसे तू लाठी सीख रही है ?'

'बड़ा अच्छा लगता है । मैं तो दीदी भाई, घर के कोने में मुँह छिपाकर रो नहीं सकती और अदृष्ट की दोहाई देकर अत्याचार को भी सह नहीं सकती, न किसी के मान-सम्मान बचाने के लिए मर्द के पैर तले लेटी रह सकती हूँ ।'

'ऐसा !'

'हाँ, ऐसा ! मैं पपीहरा हूँ और पपीहरा होकर ही रहना चाहती हूँ ।'

'कौन जाने बहन ! पति, पुत्र, आत्मीय, कुटुम्ब को त्यागकर जो जीवन है, उसमें तो मैं सौन्दर्य, मिठास कुछ नहीं देख पाती ।'

'और बातों में बहलाकर सिनेमा में जाना भी बन्द करना चाहती हो । बड़ी चालाक हो गई हो तुम । अच्छा, अब उठो, कपड़े बदल डालो । तब तक मैं काका को तैयार कर लूँ ।'

वह दौड़ती हुई लाइब्रेरी में चली गई । बोली—'अरे, काका ! तुम बैठे पढ़ रहे हो ?'

'क्यों बेटी ?'

'सिनेमा चलना नहीं है ?'

'कहाँ चलना है पिया ?'—किताब पर से मुँह उठाकर सुकान्त ने पूछा ।'

'सिनेमा—सिनेमा ।'

'सिनेमा ?'

'हाँ-हाँ सिनेमा। कैसे भूलते हो काका ! क्या भूल गये ?'

'ठीक तो है। देखा न बिटिया, बिल्कुल भूल गया था। इधर एक जरूरी राय लिखना है। आलोक और रमेश को बुलवा लेने से न चलेगा पिया ?'—सिर खुजाते हुए संकोच से ज़मींदार ने कहा।

'अच्छा तो उनमें से किसी को बुलवा लेती हूँ। बॉय !'

'बॉय' पहुँचा तो पिया ने कहा—'भट्टाचार्य साहब को सलाम दो। जरूरी काम है ! समझे ? जल्दी बुलाओ। आलोक भट्टाचार्य साहब।'

बॉय चला गया।

'उसे रोक लो बेटी, मैं चलता हूँ।'

'नहीं काका। तुम लिख लो, वरना वहाँ से लौटकर रात भर बैठे लिखोगे। समय पर भोजन कर लेना, हमारे लिए बैठे न रहना !'

'अच्छा, अच्छा, तू तो जा !'

पिया जाते-जाते लौटी—'समझे न काका, भोजन कर लेना—कहीं भूल न जाना।'

'कर लूँगा बिटिया।'

'और सुनो—'सूप' पूरा पी लेना।'

'और ? दूसरे जन्म में क्या तू मेरी माँ थी—पगली ?'

'थी, और ज़रूरी। थी न काका—?'

'थी, बेटी ! तभी तो तू खाने-पीने के लिए दिन भर मुझे डाँटती रहती है।'

'माँ क्या केवल डाँटती है काका ?'—क्षुब्ध स्वर से उसने पूछा ।

जल्दी से जमींदार बोले—माँ का डाँटना ? वह तो स्नेह का दूसरा रूप है, जैसा कि मेरी इस छोटी-सी माँ के डाँटने में रहता है ।'

अत्यन्त आनन्द से पिया चली गई, उसे पूर्ण सन्तोष मिल गया और स्नेहपूर्ण नेत्र से सुकान्त उसे देखते रह गये, जब तक वह दृष्टि के बाहर न हो गई ।

: ८ :

फाटक पर खड़ी पपीहरा आलोक के लिए अधीर होने लगी और मोटर में बैठी यमुना मुस्कराने लगी ।

'आलोक बाबू न आयेंगे । चलो हम दोनों चलें ।'—असहिष्णु पिया कह उठी ।

'पगली, हम दो स्त्रियाँ अकेली कैसे जा सकती हैं ? वहाँ न जाने कितने गुण्डे रहते हैं ।'

परम निश्चिन्त मुख से पिया ने अपने हाथ के चाबुक को देखा, फिर कहा—'रहें, हमारा क्या बिगाड़ सकेंगे । मैं तेरे साथ हूँ, फिर डरती क्यों है दीदी ?'

'वाह-वाह ! क्या कहना है वीर पुरुष का !' यमुना हँसते-हँसते लोटने लगी ।

'ऊँ—हूँ, ग़लती है । लिंग-ज्ञान तुमको नहीं है । पुरुष

नहीं, वीर नारी कहो ।'—विज्ञ भाव से पिया ने कहा ।

आलोक पहुँच गया। साइकिल टिका दी, पूछा—'कोस-भर दूर से हँसी सुन रहा था । बात क्या है ?'

यमुना के हँसने का कारण समझ सकने के साथ-साथ पिया मन में झुँझला रही थी । कहा—'हँसनेवाली गाड़ी में बैठी हैं, पूछो न उनसे ।'

गाड़ी के भीतर झाँककर संकुचित आलोक बोला—'देवीजी...'

'वाह-वाह । अरे यमुना देवी, कहिए न । मेरी दीदी मेरी ही तरह एक स्त्री हैं । नहीं-नहीं, भूल हो गई । मेरी-सी चंचल नहीं, वरन् एक सीधी-सादी, बेचारी स्त्री हैं । और आप हैं—श्रीयुत आलोक भट्टाचार्य एम० एस्-सी० । परिचय करा दिया ।'

एक ने दूसरे को नमस्कार किया ।

आलोक ने पूछा, 'नौकर कह रहा था, कोई ज़रूरी काम है ।'

'है तो अब देर न करें । मोटर में बैठ जाइए ।'

'कहाँ चलना होगा ?'

'अण्डमान द्वीप ।'

'आप तो हँसी करती हैं पिया देवी ।'

'बैठिए न, आप तो स्त्री-जैसे डरते हैं । कहीं जेल-वेल में थोड़े ही चलना है ।'

धीरे से यमुना बोली—'केवल लोगों को तंग करना । सिनेमा चलना है ।'

'यही जरूरी काम था ?'

आलोक को मुसकराते देखकर पिया जल गई—'हाँ है तो

यह एक ज़रूरी काम। सिनेमा में जाना—मैं तो इसे ज़रूरी काम समझती हूँ।'

यमुना ने उसे शान्त किया। और तीनों मोटर पर बैठ गये। भागी-भागी गाड़ी सिनेमा के द्वार पर पहुँच गई।

इन्टरवल के बाद यमुना ने पिया का वस्त्र पकड़कर खींचा। तीनों बैठे थे बाक्स में।

पिया ने धीरे से पूछा—'क्या है ?'

'ज़रा उस ओर देखना।'

पिया ने मुँह फेरा। देखा—उसके ठीक नीचे एक सुन्दर पुरुष सिर घुमाकर देख रहा है और उसी को। उन आयत नेत्रों में और क्या रहा न-रहा सो पिया नहीं जानती, परन्तु इतना वह ज़ोर के साथ कह सकती थी कि उन नेत्रों में था गहरा विस्मय।

'कैसा असभ्य है।'—विरक्त पिया कह उठी।

'मैं तो देर से देख रहा हूँ। बड़ा अनकलचर्ड-सा जान पड़ता है। लोट-लौटकर केवल इसी ओर निहार रहा है।'—आलोक बोला।

'दीदी, देखो, जीजा भी आये हैं। उस असभ्य व्यक्ति से कैसे मज़े में बातें कर रहे हैं। लगता है हमें उन्होंने देख लिया।'

'शायद वह विभूति बाबू के मित्र हों।' आलोक ने कहा।

'जीजा के पास कैसी सुन्दर स्त्री बैठी है। अरे-अरे यह क्या, दीदी, तुम्हें क्या हो गया ? आलोक बाबू, पकड़िए-पकड़िए !'

किन्तु यमुना तब तक अचेत हो गई थी। ऊपर का दृश्य

देखकर विभूति दौड़ा। साथ में वह व्यक्ति भी लपका आया, जो ऊपर देख रहा था। और तब सबने पकड़कर यमुना को लिटा दिया। पानी के छींटे से शीघ्र यमुना की सुध लौटी। वह उठकर बैठ गई।

'यदि आज यहाँ आने का विचार था तो सबेरे मुझसे कह दिया होता। और समझ सकती हो यदि मैं यहाँ न होता तो कैसा सर्वनाश हो जाता।'

उन तीनों में से किसी की समझ में न आया कि वे बातें किसके उद्देश्य में कही जा रही हैं। परन्तु उत्तर दिये बिना पिया कब रह सकती थी। बोली—'होता क्या ? मैं थी, आलोक बाबू थे। क्या हम दोनों आदमी नहीं हैं ? फिर होता क्या ?'

'ऐसे स्थान में छोकड़ों के साथ आना निरापद नहीं है।'

'तो विपद कौन-सी है ?'

'तुम तो चिढ़ती हो पिया।' विभूति कहने लगा—'इन छोकड़ों का कौन-सा भरोसा ? किस वक्त कौन-सी बात हो जाये, क्या यह सँभाल सकते हैं ?'

विभूति के कंठ का परिहास आलोक और पिया को विद्ध करने लगा।

'मैं तो अकेली आने में भी कोई बाधा नहीं देखती। न काका ने कभी रोका।'

'बस यही तो एक बात है। मामा जी ने ही तो ऐसी स्वाधीनता दे रखी है।'

'यदि स्वाधीनता है तो मैं उसका उपयोग करना भी जानती हूँ जीजा। वन्य जन्तु यदि हैं तो रहें, मेरा वे क्या बिगाड़ सकते

हैं ? दूर से चीखा-चिल्लाया करते हैं और क्या करेंगे, निकट आने का साहस उनमें है कहाँ ?'

विभूति कुछ कहने जा रहा था, किन्तु साथी ने बाधा देकर कहा—'स्त्रियों से तर्क करने जाना अपने आपको अपमानित करना है विभूति ! न जाने यह लोग अपने को क्या समझा करती हैं। जहाँ दो पन्ने इंगलिश पढ़ लिये तो अपने को स्वयं विधाता समझ बैठीं, चाबुक हाथ में लेकर अपने को वीर नारी समझने लगीं। मर्दों को गाली देने में द्विविधा नहीं करतीं। उधर इन्हीं जंगली जानवरों के बिना उनका चलता भी तो नहीं है। मजा तो यह है—कुछ समझें या न समझें, हर बात में उन्हें तर्क करने का शौक़ हो उठता है और चटपट बोलने लगती हैं।'

'ठीक कह रहे हो निशीथ !'—विभूति उत्तर में बोला।

निशीथ विभूति का मित्र था।

'फ़ैशन के लिए स्त्रियाँ चाबुक नहीं रखतीं महाशय; किन्तु उन असभ्यों के लिए कभी-कभी चाबुक की ज़रूरत पड़ जाती है, जो कि सिनेमा के चित्रों को देखना छोड़कर पर नारी का मुँह ताकना अधिक पसन्द करते हैं।'—पिया आपे से बाहर हो रही थी।

'उसे देखने में कदाचित् केवल आश्चर्य रहता हो। कुछ नूतन देखने से विस्मय का आना स्वाभाविक है। स्त्री के मुँह में सिगरेट, शराब की प्याली अथवा चाबुक ये वस्तुएँ नूतन के साथ आश्चर्यजनक भी तो हैं न ? और विशेषकर हिन्दुस्तान की स्त्रियों के लिए। देखते-देखते शायद यह भी हिन्दुस्तान की

दृष्टि में कभी सह जावे, ऐसा हो सकता है; परन्तु अभी तो वह एक नूतन और अद्‌भुत दृश्य है। और अद्‌भुत वस्तु में एक ऐसी आकर्षण-शक्ति रहती है कि वह स्वयं दूसरों की दर्शनीय बन जाती है। अच्छा, नमस्कार। विभूति, देर हो रही है, मैं चला।'

वाद-विवाद का अवसर दिये बिना ही निशीथ घोषाल चल दिये।

और पपीहरा ? क्रोध, घृणा से बावली-सी यमुना के साथ मोटर पर जा बैठी।

: ६ :

कविता बहन की सहायता करने तो गई, परन्तु हो गया उसका उल्टा। तेल का कटोरा उलटकर, नमक गिराकर मदद देने के बदले वह हानि पहुँचा बैठी बहुत।

रसोईघर में प्रवेश कर नीलिमा स्थाणुवत् अचल हो रही—'माँग-जाँचकर तो थोड़ा-सा नमक-तेल मिल गया था, वह भी तूने गिरा दिया ? कल एकादशी का निर्जला उपवास था। आज भी उपवासी रहना पड़ेगा। अरे राम, रानी बहन ने पत्ते पर जरा-सा घी धर दिया था, उसे भी पैर से रौंद डाला। न जाने मैंने कौन-सा पाप किया था, जो आज मैं भरपेट भोजन के लिए तरस रही हूँ।'

क्रोध, अभिमान, क्षुधा से विकल नीलिमा रो पड़ी—रो

पड़ी। सर नीचा किये कविता दुःख, लज्जा से काँपने लगी। व्यथा से उसका हृदय निपीड़ित होने लगा। सच तो है, आज वह यह कैसा अनर्थ कर बैठी। उसके भी आँसू भर आये, बेचारी बहन दिन-रात जाने कैसा परिश्रम किया करती है, उस पर भर पेट भोजन भी नहीं मिलता। एकादशी उपवासी मा, बहन के लिए कहाँ वह भोजन बनायेगी, वह तो चूल्हे में गया, उपरान्त उनका भोजन खराब कर बैठी। आँखें पोंछकर कविता ने चहुँओर देखा—नीलिमा कहीं न दिखी। कब अपनी कोठरी में जाकर नीलिमा पड़ रही थी, यह सब कुछ कविता नहीं जान पाई। वह चूल्हा जलाने बैठ गई। अनभ्यस्त हाथ से वह जला भी तो बड़ी देर में और कविता को रुलाकर। धुएँ से उसकी नाक और मुँह फूल गया। आँखें सूज गईं। उसने कभी भोजन बनाया न था, माता ने कभी उसे रसोईघर में जाने भी तो नहीं दिया। पहले-पहल भात बनाने बैठी तो भात जल गया और हाथ भी। मारे जलन के वह विकल होने लगी।

मुहल्ले से हरमोहिनी लौटी। रसोई घर में झाँका, शंकित मुख से पूछा—'तू रोटी बना रही है? और राजरानी कहाँ गई। अरी रोती क्यों है? जल तो नहीं गई?'

'भात सब जल गया मा!'—कविता ने अश्रुपूर्ण नेत्र उठाये।

'जल जाने दे। तू तो नहीं जली? जल गई? देखें—देखें। या राम! यह क्या हो गया, हाथ जल गया। क्वाँरी लड़की है। अब मैं क्या करूँ। तू क्यों गई रोटी बनाने? उसे क्या हो गया? यदि उस नवाब की बेटी का जी खराब था तो

मुझे क्यों न बुला लिया ? क्या मैं मर गई थी ?'—बड़बड़ाती हुई हरमोहिनी ने चूने के पानी में नारियल का तेल डालकर मथ डाला और कविता के हाथ पर लेप चढ़ा दिया, और वैसे ही बड़बड़ाने लगीं—

'ज़रा-सी लड़की, उसे रसोई में बैठाकर आप पड़ रही। कौन-सा काम किया जो थक गई ? मेरे यहाँ कौन काम है ? कुल तीन प्राणी हैं। रहती ससुराल में तो सब नवाबी निकल जाती। छोटी बहन की ईर्ष्या में जली मरती है।'

'तुम अपनी धुन में लगी हो, मेरा कुछ नहीं सुनती। दीदी ने मुझे नहीं कहा, अपनी खुशी से मैं रोटी बनाने आई थी, नोन-तेल गिरा दिया और भात जलाया। उसका क्या कसूर है ? बेचारी दीदी कल से भूखी है, आज भी भोजन न मिला।'

नीलिमा ने माता के तीखे वचन सुने तो कलह-स्पृहा बलवती हो गई। वह भागी-भागी आई कुछ खरी-खरी सुनाने को, किन्तु यहाँ की बातें उसने निराली पाईं ! कविता के कण्ठ की सहानुभूति ने उसे पानी-सा निर्मल, स्वच्छ बना दिया, उस मीठे वचन से वह क्षुधा, तृष्णा को भूल गई और दबे पांव लौटी।

सन्ध्या समय कविता बहन के सिरहाने जाकर बैठ गई। एक छोटी-सी टोकनी में कुछ लाई, मुरमुरा, नारियल के लड्डू लायी थी। टोकनी उसके सामने रख दी। धीरे से बोली—दीदी, कुछ थोड़ा-सा खाकर पानी पी लो।

नीलिमा प्रसन्न थी। अभी कुछ पहले वह पड़ी सोच रही थी—गोविन्द के मुँह सुनी कहानी, उसी जमींदार-कन्या पपीहरा की बातों की। कहानी नहीं तो क्या ? उसके निकट तो वे

सब बातें कहानी-सी ही लगतीं। आदर से कविता को उसने बिल्कुल पास बैठा लिया, पूछा—'लड्डू तुझे कहाँ से मिले ?'

'मां लाई थीं तुम खाओ, पानी ले आऊँ ?'

'जल्दी क्या है, खा लूँगी, तू बैठ।'

विस्मित कविता बैठ गई। स्नेह-आदर से उसे अपने निकट बैठाना ऐसा ही नूतन था कि कुछ देर तक कवि बात न कर सकी।

नीलिमा ने पूछा—उस दिन गोविन्द मामा जो कुछ कह रहे थे, क्या वे बातें सच हैं ?

ना-समझ की तरह कविता बहन का मुँह निहारने लगी।

'समझी नहीं ? भूल गई ? वह कहते थे न कि जमींदार की विधवा बेटी गहने-कपड़े पहनती है, सेण्ट-पाउडर लगाती है। सच हैं यह बातें ?'

'पहनती होगी, तभी तो वह कह रहे थे।'

'वही तो पूछ रही हूँ—बात सच है न ?'

'वह झूठ क्यों कहेंगे ? और इसमें हानि क्या है ?'

'तू तो जाने कितनी ही पुस्तकें पढ़ा करती है, तो ऐसी बातों के लिए किताब में निषेध नहीं है ?'

'इस बारे में किताबों में मैंने कभी कुछ पढ़ा नहीं दीदी। हानि न होगी तब तो वह पहनती है।'

किन्तु इस सरल उत्तर से बड़ी का जी न भरा।

'कहती क्या है ? किताबों में ऐसी बातें नहीं रहतीं—तो मौसी, मां, बुआ आदि कैसे कहा करती हैं कि विधवा को ऐसा नहीं करना चाहिए, वैसा नहीं करना चाहिए ? कहती हैं बाल

संवारना, साबुन आदि लगाना भी बिधवा के लिए अपराध है, फिर गहने कपड़ों की कौन कहे। उनका कहना है, इन सब के लिए किताबों में निषेध है।'

'ऐसा कहीं हुआ है, किताब में शायद ही ऐसा हो। कौन जाने। मैं यह सब नहीं जानती।'

'कुछ नहीं जानती ?'

'नही। अब जाऊँ न ?'

'तू बड़ी चंचल है, ज़रा बैठ न। पढ़ना और पढ़ाना। अरे बहन पढ़ लेना, कहीं भागा जाता है पढ़ना ? मैट्रिक परीक्षा के तीन दिन बाक़ी हैं। घबराती क्यों है ? ज़रा याद तो कर अंगरेज़ी पुस्तकों में इस बारे में कुछ लिखा है या नहीं ?'

'शायद नहीं है। जो जिसे पसन्द आवे उसे वह किया करे। इसमें भला निषेध कैसा ? गहने-कपड़े ही पर कुछ हमारा धर्म थोड़े ही निर्भर रहता होगा।—'

'ज़रूर कुछ है, तू अभी लड़की है, क्या जाने इन बातों को।'

'लो, विभाष भैया भी आ गये, उन्हीं से पूछो न किताब में है या नहीं ?'

'बात क्या है ?' परम कौतुक से विभाष ने पूछा।

'बैठ जाओ मैं कहती हूँ।' नीलिमा बोली।

विभाष बैठ गया तो फिर कहने लगी—'सुनती हूँ, शहर की विधवाएँ आचार-नियम का पालन नहीं करतीं, कॉलेज में पढ़ती हैं, गाना गाती हैं याने सधवा या कुँआरी-सी रहती हैं। क्या यह सच है ?'

'हां। फिर इसमें आश्चर्य की बात कौन-सी है?'

विभाष मुस्कराने लगा।

'वही तो पूछती हूँ। कविता कुछ ठीक-ठीक कह न सकी। ऐसा करने में अपराध नहीं है?'

विभाष जोर से हँसा—'अपराध-पाप कहकर दुनिया में कुछ है ही नहीं। वह तो अपना-अपना दृष्टिकोण है और मन की भ्रान्ति। एक कार्य को कोई पाप की दृष्टि से देखता है, कोई नहीं। विधवा भी तो मनुष्य है न? मनुष्य की तरह उन के आत्मा है, मन है, प्राण है। है क्या नहीं? ओह इस बात को अस्वीकार भी कौन कर सकता है? और यदि अस्वीकार नहीं कर सकता है, तो यह मन निःस्पृह भी कैसे हो सकता है? उस मन में भी तृष्णा है, क्षुधा है, उन नसों में भी सिहरन है, स्पन्दन है। है क्या नहीं?'

'तो विधवा को दुनिया के कोने में इस तरह मुँह छिपाकर क्यों रहना पड़ता है?'

नीलिमा के उस आतुर स्वर से विभाष चौंका, दबी हँसी उसके ओठों पर थिरकने लगी। बोला—'घर की बड़ी-बूढ़ी के कुसंस्कार और विधवा की भीरुता इसकी दायी है।'

'कुसंस्कार किसे कहते हैं?'

'कुसंस्कार? याने—बचपन से संस्कार। माने—ई—ए···'

'चुप भी रहो विभाष भैया।' गम्भीर प्रकृति की कविता हँसी तो हँसते-हँसते लोटने लग गई, वह हँसती जाती थी और कहती जाती थी—'ज़रा-सी बात न समझा सके, आये हैं पाप

और पुण्य की बात समझाने, बैठे हैं हिन्दू-धर्म और व्यवहार की आलोचना करने। पहले खुद तो समझ लो! फिर दीदी को समझाना।'

नीलिमा झुँझला पड़ी—'तुम चुप रहो, अपने को पण्डित समझे है? बड़ों का आदर करना नहीं जानती, दो पन्ने अंग्रेज़ी पढ़कर अपने को विदुषी समझने लग गई। तुम कहो भैया!'

हँसती हुई कविता भाग गई।

'हिन्दुस्तानी में एक-एक ऐसे ऊटपटाँग शब्द रहते हैं जो कि जल्दी से समझाये नहीं जा सकते और उनके दूसरे शब्द भी तो नहीं रहते। इङ्गलिश वैसी नहीं है। बात यह है कि यह सब नियम, कानून, आचार-विचार ईश्वर के बनाये हुए नहीं हैं और न वेदों में उनकी चर्चा है, यह तो हम मनुष्यों ने बना लिये हैं। कहता था आज-कल शहर में अच्छी उन्नति हो रही है, वहाँ तो कुँवारी और विधवा के रहन-सहन में ज़रा भी फ़र्क नहीं है।'

कुछ ठहरकर अत्यन्त संकोच से नीलिमा ने पूछा—'सुनती हूँ, विधवाएँ विवाह कर रही हैं? कैसी गन्दी बात है। मुझे विश्वास नहीं आता।'

'गन्दापन कुछ नहीं है। यह तो एक अच्छी बात है। और है सुरुचि।'

उनकी बात में बाधा पड़ी, कमरे में प्रवेश कर हरमोहिनी अवाक् हो रहीं—'बैठी बातें किया करो; न काम न धन्धा—केवल गप्पें लड़ाना और इठलाना। सामान कब बाँधा जायगा? मैं तो सोचती आ रही थी कि अब तक सब बँधा-बँधाया तैयार

मिलेगा। जिस ओर न देखूँ, उस ओर कुछ होने का नहीं, ईश्वर मौत नहीं देता कि सब झंझट से छुटकारा पा जाती। वह मैं हूँ जो सब सहती जाती हूँ।'

नीलिमा कब चुप रह सकती थी? बोली—'कौन कहता है कि तुम सहो? दस बार कह चुकी, इस मजूरी से मुझे छुट्टी दे दो! कविता से कुछ कहते नहीं बनता? मैं ही सब क्यों करूँ? दिन-रात गधे-जैसा काम करती रहती हूँ। ऊपर से बातें। मैं आदमी नहीं हूँ? क्या दो मिनट के लिए भी मुझे फुरसत नहीं है? सामान! सामान!! है कौन-सा सामान? पीतल के दो लोटे, एक फूटी थाली, कुछ चीथड़े। बस, सामान है तो इतना। अपनी लड़की के कपड़े सँभालो आकर, यहाँ तो चीथड़ों से काम है।'

'नीलिमा, दिन पर दिन तुम मुँहज़ोर हो रही हो।'

बोलीं तो हरमोहिनी ज़रूर, किन्तु अत्यन्त धीरे से और चुपचाप हट गईं। मुँह से चाहे वह नीलिमा को कुछ भी कहें, परन्तु मनमें उससे डरती थीं।

: १० :

कोई तीन बजे से पिया घूमने चली गई थी; तब तक लौटी न थी। दिन भर यमुना काम करती है। काम क्या उसका कम रहा? बहुत था—बहुत—बहुत। गाँव जाने के लिए मामा का सामान ठीक करना; अपने लिए पहाड़ जाने की व्यवस्था

करना, इत्यादि-इत्यादि ।

दिन भर के बाद सन्ध्या बेला में उसे समय मिला । स्नान कर जरा दर्पण के सामने खड़ी हो गई—बाल सँभालने । विभूति ने कमरे में प्रवेश किया तो पत्नी की रंगीन साड़ी पर दृष्टि गड़-सी गई । यमुना ने एक रंगीन साड़ी पहन ली थी । रंगीन वस्त्र उसे बहुत पसन्द थे, परन्तु फिर भी वह सादे वस्त्र पहनती ।

विभूति एकदम से कह उठा—'दिन-रात बनाव-शृङ्गार । रंग-बिरंग की साड़ियाँ, पाउडर और स्नो । इन चीज़ों से मेरा जी जलने लगता है ।'

*यमुना लौटकर खड़ी हो गई—'क्या करूँ । यहाँ ज़रा सज-*धजकर रहना पड़ता है । नहीं तो पिया चिढ़ती है । घर पर तो मैं साधारण भाव से रहती हूँ । तुम्हें पसन्द नहीं, फिर बनाव शृङ्गार करूँ किसके लिए ? मेरा तो सब कुछ तुम्हारे लिए है न'—वह सलज्ज हँसी ।

'मुझे पसन्द नहीं ? इसका मतलब ? सब दोष केवल मेरे माथे मढ़ने की चेष्टा । तुमसे किसने कहा कि मुझे पसन्द नहीं ? अभी-अभी जो तुम्हारे मामा ने तुम्हें लफंगे छोकड़ों के बीच में बुला लाने के लिए कहा । क्या मैंने कहा कुछ ? किन्तु तुम्हारा अपना मत, अपना प्रिन्सपल भी तो कुछ है न ? उन्होंने कहा मैं चल दिया । अब जाओ या न जाओ सो जानो तुम । दिन-रात बनाव-शृङ्गार करने का काम वेश्याओं का है, घर की स्त्रियों का नहीं । तुमसे पूछता हूँ—भले घर की लड़कियों को कहीं यह सब अच्छा लगता है ? मैं पसन्द नहीं करता ऐसी बातें कभी भूलकर भी न कहा करो । तुम्हारी अपनी रुचि है, उसमें

मैंने कभी बाधा न दी। और न कभी दूँगा। आज-कल की छोकड़ियाँ भी कैसी निर्लज्ज हो रही हैं। प्रेम तो उनके पास एक खेल की चीज़ है। बन-ठनकर केवल मर्दों से इठलाना। जैसी उसकी रुचि, परन्तु मुझे बीच में खींचना व्यर्थ है। अपना अपना दृष्टिकोण मनुष्य-मात्र का है न?'

निर्वाक् विस्मय से यमुना खड़ी रह गई। वाद-प्रतिवाद, तर्क? नहीं, नहीं, ऐसा करने की उसने चेष्टा तक न की।

'चुपचाप खड़ी हो रहोगी? कुछ जवाब दो।'

'मामा से कह देना मैं काम कर रही हूँ।'

'ऐसा मैं कह दूँ, और वे सबके सामने मेरा अपमान करें? यही तो अब होना बाक़ी रह गया है और तुम भी ऐसा चाहती हो।'

'मैं!'

'हाँ—हां तुम।'

'चलो। ठहरो, ज़रा कपड़े बदल लूँ।'

'चलोगी सो मैं जानता था।'

उस परिहास को यमुना ने सुनकर भी न सुना, बोली—'मामा का क्रोध किसी से छिपा नहीं है, यदि न गई तो इस ज़रा-सी बात के लिए वह न जाने क्या अनर्थ कर बैठें।'

इस बात को विभूति जानता न था ऐसा नहीं, किन्तु फिर भी इस कहने से वह न चूका कि—'और फिर इधर भी छोकड़ों के सामने जाने का आग्रह है ही, ऐसी स्थिति में मुझे क्यों सबके सामने बुरा बनाना?'

'मैं तुम्हें बुरा नहीं बनाती हूँ।'

उस व्यथित स्वर को विभूति ने सुनकर भी न सुना, बोला—'देर क्यों लगा रही हो, वह चिढ़ेंगे न ?'

'अभी आई, कपड़े बदल लूँ।'

'अच्छा यों कहो, ज़रा और भी बारीक साड़ी की ज़रूरत है। कमी क्या है ? मामा ने तो जाने कितनी जार्जेट की साड़ियाँ खरीद दी हैं ; उन्हीं में से एक पहन लो, जिससे बदन साफ़ दीख पड़े।'

आँसू रोकती हुई यमुना चली गई और कमरे में जाकर भीतर से द्वार बन्द कर लिया। वह ऐसी सहसा गई कि विभूति उसे रोक भी न पाया।

बाहर से नौकर दौड़ा आया कि साहब उन दोनों को बुला रहे हैं।

'अभी आते हैं'—कहकर उसने नौकर को बिदा कर दिया और रुद्ध द्वार पर जाकर पुकारने लगा। विनीत कण्ठ से विभूति गिड़गिड़ाने लगा—'जल्दी निकल आओ यमुना। मामा नाराज़ हो रहे हैं। मैंने तो ज़रा हँसी की थी, तुम रूठ गईं। मामा आते होंगे, फिर मेरी भी खबर ले डालेंगे। चली आओ, सुनती हो ?'

मोटी साड़ी पहनकर यमुना निकली।

विभूति चिढ़ा—'मैं देखता हूँ, भद्र-समाज में तुम मेरा सिर नीचा किये बिना न मानोगी। रो-रोकर आँखें सूज गई हैं। ऊपर से चमारिन जैसा कपड़ा पहनकर आई हो। अभी ऐसा मैंने क्या कह दिया कि रोने बैठ गईं ? दिन-रात आँसू बहा

बहाकर तो एक लड़का तक घर में न आने दिया । अब और क्या चाहती हो ?'

मुश्किल से यमुना के आँसू रुके थे । किन्तु पति के इस कठोर, हृदयहीन वचन के बाद वह अपने को रोक न सकी । हाथ से मुँह ढांककर रो पड़ी, यमुना रो पड़ी—रो पड़ी ; विलख-बिलखकर, सिसक-सिसककर वह रोने लगी ।

सत्य था—वह बिल्कुल सत्य । वह जानती थी, मानती थी—पति का वचन वास्तविक था । जानती थी—वह सब कुछ ! वन्ध्यात्व था उसके नारी-जीवन का अमोघ अभिशाप । सब कुछ सत्य था, किन्तु सत्य भी ऐसा नग्न, ऐसा व्याधियुक्त कुत्सित हो सकता है, केवल जानती न थी इस बात को । ऐसा विचार भी तो कभी मन में उठ नहीं पाता ! फिर अनुभव की कौन कहे ।

वह तिलमिला उठी । दुःख, खेद, वेदना से वह विकल हो पड़ी, अपरिसीम लज्जा से उसके रोम-रोम कांपने लगे ।

उधर विभूति के अन्तर का अत्याचारी पुरुष उस आँसू के सामने आकर खड़ा हो गया ! और अपराध का स्वभाव जाग पड़ा । एक अनिच्छाकृत अपराध अनेक वास्तविक अपराधों की सृष्टि में लग पड़ा । विभूति ने उसे ज़ोर से ढकेल दिया । टेबल से यमुना का सिर टकरा अवश्य जाता, यदि वह कुर्सी को पकड़ न लेती ।

उसके बाद ?—हाँ, यमुना के आँसू सूख गये थे—कदाचित् अपमान की ज्वाला से ।

बोली, वह शान्त स्वर से बोली—'मैं नहीं जाऊँगी ।'

ठीक उसी पल में विभूति भी सँभल गया। संयत स्वर से उसने कहा—'नहीं जाओगी ? मामा को मैं क्या जवाब दूंगा ? मुझे नाहक चिढ़ा देती हो। क्षमा करो यमुना, इस एक बार मुझे और भी क्षमा कर दो।'

परन्तु पति के अन्तिम शब्द यमुना के कान तक शायद ही पहुँचे हों, उसके कानों में वही छोटा-सा पद भरा था—'मामा को क्या जवाब दूंगा ?' वह अपना अपमान सह सकती है। पति का नहीं। वह चलेगी और सब कुछ भूलकर जरूर चलेगी। और इसके भी बाद ? इसके बाद वह भूलेगी, निश्चिन्त कर भूलेगी अपनी सत्ता को।

पत्नी के साथ जब विभूति बाहर के कमरे में पहुँचा तब वहाँ स्त्री-स्वाधीनता पर जोर का तर्क चल रहा था। तर्क हो रहा था जमींदार और निशीथ में। श्रोता थे आलोक, अमूल्य आदि ; पिया तब तक बाहर से लौटी न थी।

विभूति ने आलोक से कहा—'तुम चुप क्यों बैठे हो ?'

'तर्क करने से सुनने में ज्यादा मजा आता है।'

'बड़े बुद्धिमान हो भाई तुम।'

आलोक मुस्कराया।

'बुद्धिमान इसलिए कि दोनों काम साथ चल रहे हैं।'

'कैसे दो काम ?'—हतबुद्धि-सा आलोक विभूति का मुँह निहारने लगा।

'आंखें हैं द्वार की ओर किसी की प्रतिक्षा में अधीर और कान हैं तर्क के प्रति।' अपनी रसिकता में मस्त विभूति देर तक हँसता रहा।

दालान के नीचे टाइगर पिया को लेकर पहुँच गया। साईस दौड़ा-दौड़ा आया, और लगाम थाम ली। पपिहरा उतरी। अचानक निशीथ का तर्क रुक गया। वह आँखें फाड़-फाड़कर उस अश्वारोही लड़की को देखने लगा। भारतीय नारी का अश्वारूढ़ चित्र उसके नेत्र में अद्‌भुत, ऐसा अस्वाभाविक लग रहा था कि वह आँखें फेरना भूल गया।

उस सभ्यता-वर्जित दृष्टि के सामने पिया जिस परिमाण में विरक्त हुई, ठीक उसी परिमाण में उसका मन भी अस्वस्थ होने लगा।

सुकान्त परिचय कराने लगे—बेटी, यह पुलिस सुपरिण्टे-ण्डेण्ट निशीथ घोषाल साहब हैं और यह है मेरी पपिहरा।

उत्तर में निशीथ बोला—'हम दोनों परिचित हैं, पूछिए न उससे।'

'तुम इन्हें पहचानती हो पिया ? शायद तुमने मुझसे इनके बारे में कहा भी था। किन्तु मुझे कुछ याद नहीं।'—सुकान्त ने कहा।

'एक दिन पाँच-सात मिनट के लिए इनसे मुलाकात हुई थी काका !'—ताच्छल्य से उसने कहा।

'अच्छा-अच्छा, ऐसा !'—जमींदार हँसने लगे।

'आया हूँ—केवल आपसे क्षमा मांगने के लिए पिया देवी।'

पिया को चुप रहते देख निशीथ ने अपनी बात दुहराई—'सुन रही हैं पिया देवी, उस दिन मुझ से कुछ रुखाई हो गई थी। नारी दया की पात्री है, उनसे मैं कठोरता नहीं करता

चाहता। समझ रही हो न ?'

'ऐसी बात है ? यह दया का स्वाँग भी अच्छा है और उस दिन का।'

'दया का स्वाँग ?'—विस्मय से निशीथ ने कहा।

'हाँ दया का स्वाँग ! किन्तु मेरे लिए सब कुछ समान है। यदि मेरी समझ में नहीं आ रही है तो वह यही बात है कि इसकी क्या जरूरत थी ?'

'किसकी ?'—हतबुद्धि से निशीथ ने पूछा।

'इसी स्वाँग की।' पिया ने कहा।

पिया को चिढ़ते देखकर जमींदार व्यस्त हुए—'कैसा अपराध, कैसी क्षमा ? आप सबका लड़कपन अभी गया नहीं। कहाँ कुछ नहीं। कोई बात नहीं है। सब लोग आराम से बैठो। अपराध तो मन की चीज़ है। सोचो तो वह अपराध है और यदि अपराध की दृष्टि से न देखना चाहो, तो वह कुछ भी नहीं है। मैं कहता हूँ पाप के—अपराध के नाम से कुछ है ही नहीं।'

निशीथ नहीं, इस बार बोला विभूति—'उस दिन सिनेमा में यदि मैं और निशीथ न होते, तो यह लोग मुश्किल में पड़ जातीं।' हठात् विभूति चुप हो गया। पिया के विस्फारित नेत्र की मूर्त घृणा मानो उसे निगलने लग गई। उसे लगा—इसके बाद न कुछ सुन्दर रहेगा न सुनहरा, रहेगी मात्र घृणा-कलंकित एक दीर्घ कृष्ण-वर्ण यवनिका।

पपीहरा की वह दृष्टि निशीथ को भी विद्ध करने लगी। पिया ने काका की ओर मुँह फेरा।

'कौन-सी अद्भुत बात सिनेमा में हो गई थीं ?' सुकान्त ने पूछा।

'उस दिन। उस दिन ऐसा कुछ नहीं हुआ जिसके लिए रोचक भूमिका रचनी पड़े। दीदी को ज़रा चक्कर-सा आ गया था। आप दोनों महाशय बिना बुलाए आ गये और पानी-वानी लाने लगे। बस।'

'बिना बुलाए! किन्तु ऐसा अपवाद दूसरों को आप अनायास दे दें, मुझे नहीं दे सकतीं। पत्नी की सहायता के लिए विभूति ने मुझे बुला लिया था तो आप समझ सकती हैं, कि मैं निरपराधी हूँ या नहीं। अभी तक हमारे देश में पति पत्नी का अभिभावक समझा जाता है। ऐसी स्थिति में उसी पति के बुलाने से यदि मैं चला गया तो बिना बुलाये का दोष मुझ पर नहीं लग सकता।'

यह बात निशीथ ने किसी ओर देखे बिना ही कह डाली, मुस्कुराकर धीरे-धीरे।

इन बातों का प्रच्छन्न श्लेष विभूति के सिवा बाकी सबको विद्ध करने लगा।

अवहेलना के साथ पिया ने उत्तर दिया—'होगा भी। परन्तु पतित्व का और उस पतित्व के अधिकार का दावा या दोहाई शायद उस दिन करने और देने से ठीक होता, जिस दिन कि पति पत्नी पर न्याय, स्नेह, सम्मान आदि के बर्तावों से अपने पतित्व के अभिमान को अक्षुण्ण रख सकता।' पिया ज़रा चुप रही और निशीथ की ओर देखकर और कुछ कहने को हुई।

यमुना के आर्त कण्ठ का 'पिया'—चीत्कार सुनकर

पपीहरा एकदम चुप हो गई।

चीत्कार ? किन्तु पपीहरा को तो वह चीत्कार ही-सा लगा। करुण, आर्त, असहाय, मर्म-भेदी चीत्कार-सा। मूर्ति की भाँति सब बैठे रह गये।

यमुना उठी, पिया का हाथ पकड़ा। शिशु की भाँति पिया बहन की बाँह से लिपटी बाहर चली गई। उन दोनों के जाने के बाद विभूति ने मुँह खोला—'चाहे कोई कुछ भी कहे, किन्तु स्त्रियों को अधिक स्वाधीनता देना अनुचित है।'

साथ ही निशीथ ने सिर हिला दिया।

सुकान्त ने दोनों को देखा, मुस्कराये, पूछा—'अनुचित है, ऐसा तुम कह रहे हो विभूति ?'

'जी हाँ अनुचित है।'

'किस तरह की स्वाधीनता ? यानी थियेटर, बायस्कोप में जाना ?'

'कहने का मतलब है—घर के लोगों के साथ जाना चाहिए। सिनेमा में जाना ख़राब नहीं है।' विभूति ने कहा।

'चलो, फिर भी भाग्य है कि सिनेमा जाना तुम ख़राब नहीं समझते। दूसरी बात, आलोक को हम घर का लड़का समझते हैं विभूति ! तुम क्या कहते हो निशीथ ? अरे तुम भी तो विभूति के मित्र हो और मित्र के पक्ष में बोलोगे भी। मैं भी कैसे आदमी से पूछ रहा हूँ। अभी-अभी घंटे भर पहले—हम दोनों पर्दा-प्रथा की आलोचना में लगे थे।' वह हँसने लगे—'तुम तो स्त्री-स्वाधीनता के कड़े विरोधी हो।'—इतना कहकर सुकान्त गला फाड़कर हँसे।

'ठीक विरोधी नहीं ।'—निशीथ विनीत स्वर से बोला ।

'कुछ थोड़ा-सा पक्ष में भी हो ?'—जमींदार के उस व्यंग्य से निशीथ विवर्ण हो गया ।

'लड़कियाँ कहाँ चली गईं विभूति ?'—ज़मींदार ने पूछा ।

'भीतर गई होंगी ।'

'भीतर बगीचे में होंगी ।'—आलोक ने कहा ।

'आया था क्षमाप्रार्थी होकर; हो गया उल्टा । अपराध पर अपराध की सृष्टि कर बैठा । पपीहरा देवी कहाँ चली गईं ?'

निशीथ की उस कुण्ठा को सुकान्त ने सुना तो बोले—'पिया ज़रा क्रोधी है बस, इसके सिवा और कोई अवगुण उसमें नहीं है । उससे अच्छी तरह से मिलने पर तुम जान सकोगे निशीथ, वह कैसी जल-सी स्वच्छ है, स्नेह से उसका मन कैसा सना रहता है । विधाता ने गुण तो मेरी पिया में कूट-कूटकर भर दिया है। भीतर के बग़ीचे में वह दोनों मिल जायेंगी, चले जाओ ।'

अभिवादन कर निशीथ उठा ।

'बड़ी प्रसन्नता हुई तुमसे मिलकर ! कभी-कभी आया करो, हम सबको बहुत आनन्द मिलेगा ।'

'धन्यवाद, आने की चेष्टा करूँगा ।'—कहकर निशीथ उद्यान के लिए चल पड़ा ।

उसे आते देखकर पिया के भ्रू कुञ्चित हुए—'देखो दीदी, वह असभ्य, गँवार फिर आ रहा है ।'

'आने दो । अपने घर वह आया है, हमारा अतिथि है, हमें उचित है उसका स्वागत करना ।'

'मेरी बला से।'—बोली पिया तिनककर।

'परन्तु उनसे बुरा बर्ताव मत करना।'

हँसमुख से निशीथ ने कहा—'जूही के नीचे बैठी आप देवियाँ ऐसी लग रही हैं, मानों फूल की रानी हों।'

'कवि बनने का भी शौक है'—धीरे से पिया बोली।

धीरे से कहने पर भी पिया की बात निशीथ के कानों तक पहुँच गई। वह शान्त स्वर से बोला—'देखिए, जिस तरह हमारा परिचय आरंभ हुआ है, उसमें मुझे हृदयहीन, गँवार आदि सोच लेना आपके लिए एक सहज बात है, स्वाभाविक है। किन्तु क्षमा-प्रार्थी को विमुख करना एक अमार्जनीय अपराध कहा जाता है। विशेषकर स्त्री के लिए। है न बात ठीक पिया देवी?'

'ज़रूर।'—पिया मुस्कराने लगी।

'तो क्षमा कर दिया है न आपने?'

'क्षमा कर दूँ? किन्तु मेरे पास तो सन्धि ही सन्धि है, फिर क्षमा की बात कैसी?'

'मुझे बड़ी खुशी है। ऐसी जल्दी क्षमा मिल जाने की आशा नहीं थी।'

'जल्दी कर दी है मैंने? आप खुश क्यों हो रहे हैं निशीथ बाबू, इस बार देर ही सही।'

'नहीं-नहीं, देवी को अब मैं अप्रसन्नता का मौका न दूंगा। अच्छा तो चलूं न!'

'इतनी जल्दी।'—यमुना बोली।

'काम बहुत है।'

'अरे दस-पाँच मिनट बैठ जाइए।' बातें यमुना कर रही थी।

'फिर आ जाऊँगा।'

'कब आवेंगे, पहले कहिए तब कहीं छुट्टी मिलेगी।'

पिया चुप रही, वरन् उसने दूसरी ओर मुँह फेर लिया।

'आप लोग पहाड़ पर जा रही हैं आऊँगा किसके पास ?'

'दस-पाँच दिन हम यहाँ हैं।'

'आऊँगा। अच्छा नमस्कार।'—निशीथ चल दिया।

'उसे आने के लिए क्यों कहा दीदी ?'

'भद्रता के नाते। भले आदमी हैं। आयें तो हानि क्या है ? डरती क्यों है। वह शायद ही आवें।'

स्फुरित ओष्ठाधर से पपीहरा ने उत्तर दिया—'डर ? डरती तो मैं दुनिया से नहीं हूँ। फिर एक मनुष्य से डरना कैसा ? और घोषाल जैसे तुच्छ मनुष्य से डरना ! जो मन की ओर से मुझसे भी छोटा हो, उससे मैं डरूँ ?'

'छोटा है कि बड़ा, सो तो तू जान। किन्तु मैं किसी को भी अपने से छोटा समझ नहीं सकती।'

'छोटा समझती नहीं दीदी !'

'नहीं बहन ! छोटा समझूँ कैसे ? प्रत्येक मनुष्य के भीतर उसी एक परमात्मा का निवास है न, मैं सब मनुष्यों को नमस्कार करती हूँ।'

'सबको ?'

'हाँ—सबको।'

'मुझे भी ?'

'तुझे भी पिया, परमात्मा को नमस्कार करने के लिए

छोटा-बड़ा, सत्-असत् नहीं देखा जाता है और न बेला-कुबेला देखी जाती है। मैं बार-बार नमस्कार करती हूँ।'—यमुना ने हाथ जोड़कर नमस्कार किया।

पिया खिलखिलाकर हँस पड़ी।

: ११ :

ज़मींदार के घर पहुँचकर नीलिमा और कविता विमूढ़-सी रह गईं। ऐसा सुन्दर प्रासाद, मूल्यवान, मनोरम गृहशय्या, व्यवहार करना तो दूर की बात रही, आँखों से उन्होंने कभी देखा न था।

ज़मींदार का प्रासाद बाहर से उन्होंने एक बार मात्र देखा था, जब कि वे मौसी के घर निमन्त्रण में गई थीं। सो भी दूर से, मिनट भर के लिए। माँ ने कहा था—वह देखो ज़मींदार का मकान है। बाहरी अंश को कचहरी कहा जाता था, कचहरी द्वितल नहीं था। भीतरी अंश था द्वितल। ऊपर के तीन कमरे नीलिमा आदि को मिले और तीन गद्देदार पलंग, आलमारियाँ, कुर्सी, मेज़, ड्रेसिंग-टेबुल आदि बहुत कुछ अपने व्यवहार की वस्तुओं को नीलिमा घुमा-फिराकर, यहाँ-वहाँ से सहस्र बार देख रही थी, किन्तु फिर भी वे चीज़ें अनदेखी-सी रह जातीं। देख-देखकर उसे तृप्ति नहीं मिल रही थी।

भण्डार, रसोई आदि की व्यवस्था, नियम आदि भली-भाँति समझने के बाद हरमोहिनी ने परम परितोष से चाभी

का गुच्छा सँभाला और दासी-चाकर से बातें करने लगीं।

शहर से एक भृत्य, लछमन नाम का, ज़मींदार के साथ आया था, दूसरे सब उनकी भतीजी पपीहरा के साथ आवेंगे। सुकान्त टेबुल पर भोजन किया करते थे।

हरमोहिनी ने कविता को अपने निकट बुलाकर कहा—'लछमन बेचारा बूढ़ा है, शहर से यही तो एक आया है, किस-किस तरफ़ वह देखे ? सब नौकर नये हैं। तुम बेटी, लछमन से यहाँ का काम सब समझ-बूझ लो।'

कविता चुपचाप खड़ी रही।

माँ कहने लगीं, 'समझीं ? ज़मींदार के भोजन के वक्त तुम रहा करो, कौन-सी चीज़ की ज़रूरत पड़ जावे, देखा करो। कल से यह सब हमारे ऊपर निर्भर है। ज़रा मन लगाकर सीख लो।'

लछमन वहीं खड़ा सब सुन रहा था। प्रसन्न हुआ। कविता बोली—'दीदी को बुलाये लाती हूँ, उनसे सब बन जायगा। मुझसे यह न होगा माँ।'

'क्यों न बनेगा ?'

कविता धीरे बोली—'न बनेगा, दीदी सँभाल लेंगी।'

'वह तो उजड्ड है, जी में आया काम किया, न आया पड़ा रहने दिया, नीलिमा का कौन भरोसा ?'

'वह तो सब काम करती हैं माँ।'

'चुप भी रह। मुझसे ज्यादा तू उसे क्या पहचाने। करती है, पर जब इच्छा हुई। मैं और लछमन कौन तरफ सँभालूँ। उधर देवी-पूजा, इधर इतनी बड़ी गृहस्थी। नायब-गुमास्ते, नौकर-चाकर सब चौके में खाते हैं। तुम बड़ी हो चली

बेटी, शादी होगी। अभी से ज़रा घर-गृहस्थी के धन्धे सीख लो।'

लछमन ने कहा—'साहब की भतीजी हैं न माँजी, वह भी ठीक इन बाई की तरह हैं। घर-गृहस्थी के काम कुछ नहीं समझतीं। घोड़े का बड़ा शौक है, पढ़ने में भी वैसी तेज, परन्तु लड़की है तो परीहरा बाई हज़ार में एक। फिकर न करो माँजी, श्वसुर के घर जाने से सब सीख जायँगी।'

कविता चुपचाप चली गई और नीलिमा को भेज दिया। लछमन ने पूछा—'माँजी, साहब आपके बड़े भाई हैं कि छोटे?'—उसने सुना था, साहब की बहन देश में रहती हैं। तो लछमन निश्चय पर पहुँच गया—माँजी साहब की बहन हैं।

नीलिमा पहुँच गई। बात उसने सुनी और जल्दी से बोली—'लछमन भैया, तुम्हारे बाल-बच्चे कहाँ पर हैं देश में?'

बात दूसरी ओर लौटी देखकर गृहिणी कन्या पर प्रसन्न हो गईं। मन-ही-मन सराहने लगीं—हाँ नीलिमा में अक़्ल जरूर है, बुद्धिमती है, बस जरा जिद्दी है।

ज़मींदार के भोजन के बाद नीलिमा ने भर पेट, तृप्ति-पूर्वक भोजन किया—चने की दाल, नाना प्रकार की तरकारियाँ, साग-भाजी, दही, खीर, मलाई, फल, मिठाई। पेट में जगह नहीं, किन्तु उस स्वादयुक्त भोजन से वह हाथ भी न खींच सकी। कविता को तो फिर भी कभी शादी-ब्याह में अच्छा भोजन मिल जाता था, किन्तु उस अभागिन विधवा को कहीं भी पूछ नहीं थी। दुनिया की दृष्टि में वह मर चुकी थी, किन्तु फिर भी यदि उसके मन का प्राण, रुचि और स्वाद के साथ

जोवित रहा हो, तो इसे एक रहस्य के सिवा क्या कहा जा सकता है ?

चुपके से नीलिमा ने माँ से पूछा—'माँ, यहाँ रोज़ ऐसा भोजन बना करेगा ?'

'रोज़ ।'

'रोज़ बनेगा माँ—रोज़ ?'

'हां, हर रोज़। यह राजा का घर है बेटी, नित राजभोग बना करेगा। कमी किस बात की है।'

'भोजन भी कैसा अच्छा बना है ?'

'क्यों न बने, एक-से-एक अच्छे रसोइए हैं। ज़रा सुकान्त का आदर-यत्न भी करना है। वहुत अच्छा है बेचारा। मैं बूढ़ी हो गई, कवि अभी लड़की है, तू यदि ज़रा मुझे मदद दे नीली, तो बात बन जाय।'

नीलिमा झल्ला पड़ी—'बच्ची है, बच्ची है, कहकर तो तुमने कविता का दिमाग़ बिगाड़ दिया है। बच्ची कैसी ? सत्रह-अठारह वर्ष की हो गई और बच्ची बनी है ? यही मुझे नहीं सोहाता कि मैं बूढ़ी बनी दिन-रात काम किया करूँ और वह बच्ची बनी झूला झूला करे। मैं खुद चाहती हूँ तुम्हारी मदद करूँ। ऐसी बातों से जी जल जाता है। कवि मुझसे दो वर्ष ही तो छोटी है।'

'सत्रह-अठारह वर्ष की अभी वह कहाँ हुई नीली ?'

'नहीं, दस वर्ष की है।'

'सोलह पूरे हुए अभी महीना भर तो हुआ है।'

'होंगे, क्या सोलह वर्ष कम हैं ?'

हठात् हरमोहिनी धीमी पड़ गईं। कदाचित् नौकरों का उन्हें ख़याल रहा हो, कि उन सबके सामने कहीं ओछापन प्रकाशित न हो जावे।

आवाज़ में मिठास भरकर बोलीं—'बूढ़ी हो गई हूँ, कुछ का कुछ कह देती हूँ, तो भी चिढ़ जाती है। तुम न सँभालोगी तो कौन सँभालेगा नीलो ? ज़मींदार जब भोजन पर बैठा तब मैंने ज़रा झाँककर देखा। भला आदमी है, मुझे देखा तो माँ कहकर पुकारने लगा।'

'बोलीं तुम कि नहीं ?'

'बोली—चली गई भीतर।'

'क्या बोले ?'

'पूछने लगा, आपको तक़लीफ़ तो नहीं है ? बड़ा अच्छा है।···खीर हटाती क्यों है ?'

'पेट में जगह नहीं है।'

'खा लो, खा लो। धीरे-धीरे बैठकर खा लो। अच्छी चीज़ें तेरी थाली पर कभी परोस न सकी थी। मेरा भाग्य। खा लो, दोपहर का जलपान अभी बनाने को पड़ा है।'

माँ के कण्ठ में स्नेह का आभास पाकर नीलिमा का मन प्रफुल्ल हो गया—'जलपान मैं बना लूंगी, तुम सो रहो।'

दोपहर में जलपान के लिए बैठा था सुकान्त और द्वार के पास ज़रा हटकर, जमीन में बैठी थीं हरमोहिनी।

'सब चीज़ें गरम हैं, आपने अभी बनाई होंगी ?' सुकान्त ने पूछा।

'हाँ बेटा ! ठण्डे समोसे, कचौरी कहीं अच्छी लगी हैं ?

अभी बन रही हैं।'

ऐसा परिश्रम क्यों करती हैं ? कहीं बीमार पड़ गईं माँ, तो यहाँ सँभालने वाला कोई न रहेगा।'

'विधवा से रोग-पीड़ा दूर रहती है बेटा, चिन्ता न करो, मुझे कुछ होने का नहीं। कचौरी अच्छी बनी है ? दो-चार और ले लो। नीली, कचौरी लेती आ। गरम-गरम लाना।'

पैर की आहट से सुकान्त की दृष्टि द्वार के प्रति अपने आप उठ गई। नेत्र में पलक न पड़ पाये। उसने देखी वही वस्तु, जिसकी कल्पना का उत्कर्ष मात्र समझे हुए था। नहीं-नहीं, रूप की शव-साधना ही नहीं; वरन् रूप। जीवित परी उसके सामने उपस्थित थी।

अवगुण्ठन की आड़ से जितना-सा जो कुछ भी दीख पड़ा, सुकान्त को लगा—वह अपरूप है, अपरूप है।

और नीलिमा ? पुरुष की मुग्ध दृष्टि के नीचे वह एकदम काँप उठी। कचौरी की रकेबी हाथ से छूट गई। लज्जित, कम्पित तरुणी उसी भाँति खड़ी रह गई।

'गिरा दिया। सब खराब कर दिया। सब काम में उतावली। जाओ, और ले आओ।'—हरमोहिनी ने कहा।

'आपके पैर में लग गया ? अरे, खून बह रहा है। देखें-देखें !'—सुकान्त ने कहा।

एक प्रकार दौड़ती नीलिमा भागी। न पीछे लौटकर देखा न कुछ।

सुकान्त बोला—'उनके पैर में चोट लगी है। खून बह रहा है। जरा-सा टिनचर लगा देने से अच्छा होता।'

'हिन्दू के घर की विधवा को ज़रा-सी चोट की परवाह नहीं रहती बेटा, अपने-आप अच्छा हो जायेगा।'

'बेचारी विधवा है, ऐसी कम अवस्था में!'—सहानुभूति से सुकान्त का गला भर आया।

संकुचित नीलिमा आई, कचौरी टेबुल पर रख दी और लौटी।

'ज्यादा चोट आई है? 'जमबुक' लगा लें, मेरे पास है।'

जाती-जाती नीलिमा लौटी, पल भर के लिए उसने आँख उठाई और चल पड़ी। रसोई में जाकर कचौरी की कढ़ाई उतार ली। उसका श्वास रुक-सा रहा था। ज़मींदार की वह सहानुभूति, मुग्ध दृष्टि उसके चहुँओर की वायु में घूम-फिर रही थी।

सहानुभूति पाना, अपने लिए किसी को विचार करते देखना उसके लिए ऐसा नूतन, असम्भव था कि आज के इस पाने को वह अपनी छोटी छाती में अच्छी तरह उपलब्ध भी नहीं कर सकती थी। ऊपर अपने कमरे में चली गई। भीतर से द्वार बन्दकर वह बड़े से दर्पण के सामने खड़ी हो गई। देखने लगी—नीलिमा विस्फारित दृष्टि प्रसारित कर देखने लगी अपने ही रूप को। आश्चर्य-चकित-दृष्टि से देखने लगी उस अनुपम मुख को। ऐसी सुन्दर, ऐसी मनोरम है वह? वह तो अपने को सदा देखा करती थी, किन्तु ऐसी सुन्दर तो वह कभी न थी, फिर यह रूप पल भर के भीतर वह कहाँ से चुरा लाई? किसके घर डाका डाला? अरे कहाँ से लाई, कहाँ से लाई?

नीलिमा का हृदय तब भी वैसा ही धड़क रहा था और

दृष्टि में विस्मय वैसा ही निविड़ होता चला जा रहा था, और वह वैसी ही खड़ी-खड़ी विचार रही थी—रूप ! रूप !! ऐसा रूप !!!

उस आइने के भीतर थी एक अनुपम सुन्दरी और बाहर था एक मुग्ध विस्मय; प्रश्नों की एक विचित्र उलझन।

: १२ :

उस दिन आलोक की मोटर-साइकिल के साथ-साथ पपीहरा घोड़े को दौड़ा रही थी। इसी धुन में वह निकल गई दूर—बहुत दूर, शहर के बाहर। मोटर-साइकिल का कहीं पता न था। पपीहरा घोड़े पर बैठी चली जाने लगी।

क्रमशः दिन का प्रकाश धुँधला हो चला। अचानक उसे लगा, अरे घर लौटना है, कहाँ निकल आई ? फिर लगा, टार्च तो साथ लाई नहीं। अब ? कोई हानि नहीं। डर किसका है ? पिया मुस्कराई—हाँ-हाँ डर ही किसका है ?

फेरा घोड़ा और तेजी के साथ घर की ओर चली। धीरे-धीरे अन्धकार पृथ्वी की गोदी भरने लगा। उत्साह से पिया घोड़ा उछालती बढ़ती चली। अन्त तक चहुँओर अन्धकार ही अन्धकार रह गया। न कहीं पथ का चिह्न, न कहीं निर्देश। झाड़ी-झुरमुट, कहीं बड़े-बड़े वृक्ष, नाले, गड्ढे और बस अन्धकार !

एक ज़ोर का शब्द हुआ, साथ में पिया को लेकर घोड़ा

गड्ढे में गिर पड़ा ।

बचते-बचते भी पिया कुछ दब-सी गई। दूसरे पल में मोटर की लाइट उस पर आ गिरी। कार थी निशीथ घोषाल की। वह दौरे से लौट रहा था। कार रुकी। निशीथ उतरा। 'शोफ़र' और निशीथ ने मिलकर मुश्किल से पिया को निकाला, घोड़े को बाहर किया। पपीहरा बाहर निकली। गड्ढा अधिक गहरा नहीं था। किसी तरह वह सीधी होकर खड़ी हो गई। कई स्थान उसके छिल गये थे, घुटने में चोट लगी थी, शरीर उसका दर्द से चूर-चूर हो रहा था। किन्तु उस मुख पर वेदना-जनित क्लेश के चिह्न उस समय बिल्कुल न थे—वरन् लज्जा, अपमान, क्रोध इन तीनों के एकत्र समावेश से मुख का भाव विचित्र-सा अद्भुत-सा हो रहा था।

अपने ऊपर नहीं, मन-ही-मन वह निशीथ पर झल्ला रही थी, इस समय इसे यहाँ आने की जरूरत ही कौन-सी पड़ गई?

आगे के दिन वर्षा हुई थी, उस दिन भी थोड़ी बूँदें पड़ गई थीं। खेत-खलिहानों में कीचड़ हो रहा था, गड्ढों में पानी जमा हुआ था। कीचड़ से लथपथ पिया की उस अपरूप मूर्ति की ओर देखकर निशीथ बोला—'अरे आप!'

पिया चुप रही।

निशीथ कहने लगा—'वही तो सोच रहा था, ऐसा दुःसाहस किसका हो सकता है। कहीं लगा तो नहीं? लगा है, घुटने छिल गये हैं। गाड़ी पर बैठ जाइए।'

'अनेक धन्यवाद, मैं स्वयं चली जाऊँगी।'—उसके अनजान में उसका स्वर कठोर, अभद्रोचित हो गया और उस स्वर की

कदर्यता निशीथ को बिद्ध करने लगी।

'आपका घोड़ा जख्मी हो गया है। शायद ही उस पर आप जा सकें।'

पिया ने कुछ उत्तर न दिया, अश्व की परीक्षा की, बोली—'ठीक है।'

'ठीक है, जरा अच्छी तरह देखिये!'

'ठीक है, मैं चली जाऊँगी।'

'कीचड़ से सन गई हैं, इस तरह से घोड़े पर चली जायँगी? शहर में जाना है।'

'कोई हानि नहीं।'

उस संक्षिप्त उत्तर के बाद भी निशीथ ने कहा—'इस तरह शहर में जाना शायद ठीक न होगा। फिर भी विनय करूँगा, आप कार पर चलें।'

निशीथ की बात पिया को व्यंग्य-जैसी लगी और तभी-वह उत्तप्त-सी हो गई—'चाहे मैं किसी तरह भी जाऊँ, उसका विचार मैं स्वयं कर सकती हूँ।'

अपमान से निशीथ का मुँह लाल पड़ गया, इसके बाद वह संयत स्वर से बोला—'जानता हूँ, इसे आप अनधिकार चर्चा कहेंगी, और है भी शायद ठीक, किन्तु फिर कहना पड़ रहा है।'

उसके मुँह की बात मुँह में रह गई। पिया उछलकर घोड़े पर बैठी—'नमस्कार निशीथ बाबू, धन्यवाद भी।'

जाने कब तक निशीथ स्तब्ध विस्मय से खड़ा रह गया।

× × ×

अपने मित्रों को विभूति ने चाय का निमंत्रण दिया था; आलोक, रमेश आदि को भी निमंत्रण था और निशीथ तो उसका मित्र ही ठहरा, फिर वह छूटता कैसे ?

निमन्त्रितों से कमरा भर गया। यमुना, पिया उपस्थित थीं। यमुना संकुचित बैठी थी, पिया गम्भीर। उस गम्भीरता को देखकर आलोक बोला—'आपको ऐसा कभी नहीं पाया। आज बात क्या है पपीहरा देवी ?'

'कुछ भी नहीं।'—मन ही मन पिया झुँझला उठी।

'घुटने का दर्द कैसा है ?'—निशीथ ने पूछा।

वह देर से बैठा हुआ था, परन्तु अब तक पपीहरा से बोला न था। और पपीहरा ने उसे देखकर भी न देखना चाहा था।

प्रश्न सुनकर यमुना के सिवा बाक़ी के सब लोग आश्चर्य से पिया को देखने लगे, पूछने लगे—'क्यों, पैर में क्या हो गया ?'

उस दिन की बातें पिया ने यमुना से कह दी थीं और किसी से नहीं।

सहसा पिया को अनुभव हुआ, सबके सामने उसे लज्जित करने का ही निशीथ का प्रयास है और कुछ नहीं। मेरे लगने से यदि उन्हें सच्ची सहानुभूति होती तो क्या सप्ताह के भीतर एक दिन भी यह ख़बर लेने न आते ? विचार उठा और पिया स्थिर निश्चय पर चली गई, साथ ही उसका ख़ून उबलने-सा लगा।

उत्तप्त स्वर से बोली पिया—'ज़रा-सी चोट मिटने में घंटे भर की देर नहीं लगती है, इस बात को न समझ सकना

ही है विस्मय की बात निशीथ बाबू; परन्तु घोड़े पर से गिरना नहीं।'

विराट् विस्मय निशीथ की आँखों के सामने अड़ गया। उसने सिर नीचा कर लिया। उत्तर ? नहीं, उत्तर देते, वाद-प्रतिवाद करते उसे अपमान-सा लगने लगा। देर के बाद उसने मुँह खोला तो उस स्वर से विरक्ति ही केवल सामने आई—'सचमुच, आपसे बात करना कठिन है। कब कौन-सी बात पर चिढ़ उठें—यही है एक भारी समस्या। इस समस्या के युग में यदि प्रत्येक मनुष्य से नाप-तौलकर बातें करनी पड़ें, मनुष्य-मात्र एक समस्या बन जावे, तो पृथ्वी का अन्त अनिवार्य है। यों ही तो समस्या में पिसकर जीवन दुर्भार हो रहा है।' निशीथ मुस्कराया, फिर कहने लगा—'ईश्वर को अनेक धन्यवाद कि मर्दों का मन उसने उदार बना दिया है, वरना क्या होता सो कौन जाने।'

'मैं भी आपकी ओर से धन्यवाद दिये देती हूँ निशीथ बाबू ! मर्दों को ऐसा उदार न बनाता तो मर्द स्त्री जाति को गाली देते ही कैसे ? गाली देना, और खुले तौर से स्त्रियों को अनुदार, संकीर्ण कह देना उस उदारता का ही एक अंग होगा।'—क्रोध से पिया लाल पड़ गई।

यमुना ने कहा—'रात से पिया के सर में दर्द है, मैं समझती हूँ, उसे कुछ विश्राम देना ठीक होगा। हम बातें करें, वह सुने।'

'मुझे क्या मालूम, आप आराम करें पिया देवी। अच्छा नमस्कार।'

निशीथ को उठते देखकर यमुना ने रोका—'बैठिए-बैठिए,

जल्दी क्या है ?'

'आपका अनुरोध टाल नहीं सकता, दो मिनट बैठ जाता हूँ, किन्तु फिर न रोकिए सन्ध्या निकली जा रही है।'

'तो जाने दीजिए सन्ध्या को।'

'नहीं यमुना देवी, सन्ध्या-वन्दन करना है।'

'किसको ?'

'मुझे।'

पिया सब कुछ भूल गई, कौतुक-स्वर से पूछने लगी—'आप पूजा-पाठ करते हैं, उस पर विश्वास करते हैं ?'

पिया ही नहीं, कमरे में अनेक नेत्र व्यंग-परिहास से मचलने लगे।

हास्य मुख से निशीथ ने एक बार सबको देखा, फिर शान्त स्वर से कहने लगा—'यदि विश्वास न करता तो उस काम को करता क्यों ? कैसे और किस लिए उस काम को करता पिया देवी ? किसी दिन ऐसे काम पड़ जाते हैं कि दिन भर स्नान-पूजा का समय नहीं मिलता। रात में कहीं घर लौटता हूँ और तब स्नान-सन्ध्या के बाद मुँह में पानी पड़ता है। इसमें मुझे विरक्ति नहीं, संतोष मिल जाता है।'

ताली बजा-बजाकर पिया हँसने लगी। हँसी रुकी तो बोली—'सब स्वाँग है। पत्थर को जाने लोग कैसे पूजते हैं। सब दिखावा है और है कुसंस्कार।'

इस बात पर कितने ही मुँह फेरकर हँसने लगे।

विभूति बोला—'इन बातों को मैं नहीं जानता था। चाहे तुम कुछ भी कहो निशीथ, किन्तु माने बिना गति नहीं, कि यह

सब कुसंस्कार है, ढोंग के सिवा कुछ नहीं है। जिसे तुम पूजा करना कहते हो, वह एक खासा स्वाँग है।'

'होगा।'—निशीथ मुस्कराने लगा। विश्वास-निष्ठा से उसके नेत्र दीप्त हो गये, क्षण भर के लिए वह चुप रहा, बिल्कुल चुप, इस तरह मानों परमात्मा की वन्दना में समाधिस्थ हो रहा।

हठात् उसने पिया की ओर अचल दृष्टि से देखा, कह उठा—'आप हँसती हैं? परन्तु मैं कहता हूँ, आप भी पूजा करती हैं।'

'मैं—मैं ?'

'आप स्वयं पिया देवी, वरन् यों कहना ठीक होगा कि प्रत्येक व्यक्ति मूर्ति-उपासक है। बिना इसके आत्मा को सन्तोष भी तो नहीं मिल सकता है। उसी परमात्मा से हमारी आत्मा मिली हुई है न। दिन-रात जो एक नीरव आकर्षण आत्मा में हुआ करता है उसे वह अस्वीकार कैसे करे ?'

'ठहरिए-ठहरिए। प्रत्येक व्यक्ति मूर्ति-उपासक है, ऐसा आप कह रहे हैं न ?'

'कह तो रहा हूँ।'

मूर्ति-उपासक व्यक्ति की बात दूर रही, इस सभ्य युग में मूर्ति-उपासक जाति ही की संख्या आप नहीं गिना सकेंगे निशीथ बाबू।'

'सभ्य और असभ्य जाति-मात्र मूर्ति-उपासक हैं।'—उसी अटल विश्वास और जोर के साथ निशीथ कहने लगा—'मुँह से चाहे कोई कुछ भी कहे, किन्तु कार्यतः वह मूर्ति-उपासक के

सिवा कुछ नहीं है। कोई जाति सूर्य की उपासना करती है, कोई अग्नि की, कोई क्रूस की, कोई पुस्तक की, कोई क़ाबा की, याने चहुँओर है मूर्ति की उपासना। बात वही है। वस्तु मात्र की एक आकृति तो है ही। कोई काली, शिव, दुर्गा, कोई ब्रह्म की। और आप पिया देवी, घोड़ा और चाबुक की पूजा करती हैं।'

निशीथ हँसता-हँसता उठा—'नमस्कार, सन्ध्या निकली जा रही है।'

'जब हारने की नौबत आई तो भागने की सूझी।'—बोला विभूति।

पलभर के लिए निशीथ रुका—वैसे हो स्मित हास्य से कहने लगा—'हारने की ?'

'हारने की, तर्क में तुम अवश्य हार जाते निशीथ।'—विभूति ने कहा।

'तर्क ? किन्तु जो विशाल है, अनन्त है, उस महाब्रह्म को हम अपनी सीमित तर्क-शक्ति से नाप ही कैसे सकते हैं विभूति ? उस ब्रह्म को तर्क की परिधि में लाने की चेष्टा तो वातुलता मात्र है। नमस्कार, नमस्कार।'

निशीथ के चले जाने के बाद कमरे में परिहास, विद्रूप ज़ोर के साथ चलने लगा।

कोई बोला—'रहता तो है अप-टू-डेट-सा, सूट-बूट, टाई-कॉलर सब पहनता है। उधर औरतों जैसा माला भी टाला करता है।'

दूसरे महाशय ने कहा—'मुरगी के अंडे उड़ाते हैं और वक्त

पर आप पुजारी भी बन जाते हैं। जाने कैसा असभ्य व्यक्ति है।'

घृणा से पिया का मुँह संकुचित हुआ—छि:, ऐसे व्यक्ति भी मर्द कहलाने को मरते हैं।

'कैसी गन्दी रुचि है।'—किसी ने कहा।

विभूति कहने लगा—'मैं नहीं जानता था कि निशीथ ऐसा असभ्य और कुसंस्कार-ग्रस्त जीव है। गँवार कहीं का।'

'नहीं जानते थे ? आप ही के अन्तरंग मित्र तो हैं न मिस्टर घोषाल ?'—पिया ने टोंक दिया।

'मुँह पर मित्र कह दिया तो क्या हुआ, वह मित्र थोड़े ही बन जाता है।'

'झूठ-मूठ कह दिया मित्र ? छि: ऐसी प्रतारणा।'—मानों पिया अपने-आप कह उठी।

'बात यह है पिया, कि संसार में हमें कभी झूठ बोलने की भी ज़रूरत पड़ जाती है।'

पिया ने कुछ उत्तर न दिया। घृणा, विराग से उसका मन जाने कैसा कर उठा। वहाँ बैठने में उसे एक अस्वच्छन्दता-सी लगने लगी। पपीहरा जल्दी से उठी।

पिया को जाते देखकर आलोक ने पूछा—'काकाजी गाँव चले गये ? आप लोग पहाड़ पर कब जा रही हैं ?'

'दो-चार दिन में।'—जाते-जाते पिया ने कहा और जल्दी-जल्दी वहाँ से निकल गई।

: १३ :

धीरे-धीरे कविता और नीलिमा इस नूतन जीवन में कुछ अभ्यस्त-सी हो गईं।

लिखना, पढ़ना, घूमना और ज़मींदार के गृह-पालित पशु-पक्षियों को लेकर कविता आराम से, आनन्द से रहती और नीलिमा गृहस्थी की देख-भाल, सुकान्त के भोजन आदि की व्यवस्था कर सन्तोष, तृप्ति से दिन बिताती। उसके जीवन में एक नूतन और आकर्षक अध्याय आरम्भ हो गया था। पुरुष की सेवा कर नारी को ऐसी शान्ति, तृप्ति मिल जाती है। उस का नारीत्व इस तरह चरितार्थ हो जाता है, इस बात का तो वह विचार भी कभी न कर सकी थी। विमूढ़-विस्मय और एक अदम्य आग्रह से वह आगे बढ़ती चली जाती, कुछ सोच-विचार न कर पाती थी।

ज़मींदार के लिए नीलिमा नित्य नये-नये भोजन बनाती, ज़मींदार के लिए भृत्य बिस्तर लगा जाता, वह सब नीलिमा को पसन्द नहीं आता। वह फिर से चादर उठाती, बिछाती, तकियों के झालर को ज़रा सीधा कर देती। उनके लिए भोजन बना-कर, पान लगाकर, वस्त्र को उठाकर उसके अन्तर का नारीत्व—गृहिणीत्व खुशी, आनन्द से मतवाला-सा हो उठता। साड़ी के आँचल से वह टेबिल, आलमारियों को पोंछती फिरती, गुल-दस्तों के पुष्प में पानी छिड़कती। सुराही के जल में गुलाब-जल मिलाती और दिन में दस बार घूम-फिरकर ज़मींदार के कमरे की देख-भाल करती।

हरमोहिनी अधिकांश समय नीचे रहती थीं। भंडार, पूजा आदि से उन्हें अवसर कम मिलता था। रात को सोते वक्त ऊपर आतीं और चुपचाप पड़ रहती थीं।

सोते थे सब ऊपर। ज़मींदार भी। नौकर-चाकर नीचे रहते, कोई बगीचे के मकान में भी रहता।

सूर्य की शेष किरण कमरे के कुछ अंश में लोट रही थी, मुरझाई-सी, क्लान्त-सी। नौकर बिस्तर लगाकर नीचे उतर गये थे। ऊपर थी केवल नीलिमा। बिछी हुई साफ़-सुथरी चादर को उठाकर फिर से पलंग पर बिछा रही थी। उसकी दृष्टि में चादर कुछ सिकुड़-सी गई थी। और उस सिकुड़ी चादर पर ज़मींदार की निद्रा में व्याघात की भी सम्भावना थी।

नीचे का कोलाहल ऊपर आ रहा था, सिल-लोढ़े का शब्द, खल-बट्टे की धमक और दासी-चाकर के उच्च चीत्कार मिलाकर एक अपूर्व कोलाहल था।

चादर बिछाती हुई खुली खिड़की की ओर नीलिमा ने देखा, दूर में हरे-हरे खेत गेहूँ, जव की बालों से लदे खड़े थे। सामने के आम के पेड़ पर बैठी हरी टुइयाँ पुकार रही थीं। पृथ्वी मानों हरी हो रही थी। सामने की दुकान से गरम-गरम मुरमुरे की महक आ रही थी, खेत की पगडंडी पर कोई रसिक कृषक गाता हुआ चला जा रहा था—

'बेदरदा तू आज हमरी ओर
सँवलिया तू आज हमरी ओर

नीलिमा की नसें एकदम रोमांचित हो उठीं। वह ध्यान लगाकर उस गीत को सुनने लगी—

'जियरा घबरावत मोर रे।
घड़ी-पल-छिन मोहे कल ना पड़त हैं
जियरा न मानत मोर रे।'

गीत में वह ऐसी तन्मय हो रही थी कि ज़मींदार का आना भी उससे गोपन रह गया। अचानक उसने देखा तो दृष्टि पड़ गई एकदम ज़मींदार के मुँह पर।

अपनी गुप्त सेवा को इस तरह प्रकट होते देखकर वह लज्जावती लता-सी अपने-आपमें छिप जाना चाहने लगी।

उधर ज़मींदार ने आई हुई हँसी को रोक लिया। कुछ देर तक उस लज्जा के रूप को देखता रहा। उसके नेत्र पुलक विस्मय से झँपने-से लगे। कदाचित् उस दृष्टि में नारी का लाज-रक्तिम सौन्दर्य नूतन हो, अनास्वादित हो।

देर के बाद सुकान्त का रुँधा हुआ कण्ठ खुला—'तुम क्यों तकलीफ उठा रही हो; नौकर कहाँ गए?'

नीलिमा को वाक्‌रोध-सा हो गया। रही वह चुप—एकदम चुप। अपने अनजान में सुकान्त उसके निकट चले गए, बिलकुल पास। उनकी गरम-गरम साँस नीलिमा की कुञ्चित देह में लगने लगी।

'कल बुखार चढ़ा था, आज कैसी हो नीला?'

आदर-स्नेह से सने उस प्रश्न ने अचानक नीलिमा के नेत्र में जल भर दिया। पहले न जाने कितनी बार वह बीमार पड़ी और अधिक बीमार। कभी मरने से बची! डाक्टरी दवा? नहीं, कुछ नहीं। उस विधवा के जीवन के लिए उतना समय और अर्थ दुनिया को था ही कहाँ जो डाक्टर-वैद्य बुलाये जाते

या दवा, पथ्य दिए जाते ? और कल ? कल उस सामान्य ज्वर के लिये डाक्टर आया, दवा आई। स्वयं ज़मींदार द्वार पर खड़े दस बार पूछ-ताछ कर गए। उस दिन में और आज में अन्तर कितना है। कितना ? कितना ? न थोड़ा है न कम पृथ्वी और आकाश में जितना अन्तर है, बस उतना ही तो है। उस दिन थी वह पृथ्वी की आजीविता, अनादृता, उपेक्षिता, पातालपुर की बन्दिनी, जहाँ न तो सूर्य की किरण थी, न पवन के गीत ! और है बहुत कुछ।

'अब जी कैसा है ? कहो-कहो, चुप क्यों हो ?'—सुकान्त ने फिर पूछा।

नीलिमा के नेत्र छलछला आये। उस सहानुभूति ने उसके दुःख, वेदना को वाष्प के रूप में परिवर्तित कर दिया, धीरे-धीरे वाष्प जम कर ऊष्मा होने लगा और फिर बूँद-बूँद में बह निकला। पहले दो, फिर चार और उसके बाद नीलिमा रो पड़ी—रो पड़ी, सिसक-सिसककर, फूट-फूटकर, अपना-पराया भूलकर, एक उद्दाम वेगपूर्ण झरने की भाँति—झर-झर-झर-झर-झर।

सुकान्त का हाथ उठा और रूमाल से नीलिमा के नेत्र पोंछ दिए गए।

एक बार द्विधा किया, जमींदार ने उसका हाथ पकड़ लिया। नीलिमा का करीर काँपा। दूसरे पल उसका बोधहीन शरीर गिरने को हुआ। बड़े आदर, सम्मान से सुकान्त ने उसे अपनी बाँह में उठा लिया एवं पलंग पर लिटाकर पंखा करने लगे।

धीरे-धीरे नीलिमा ने आँखें खोलीं। उठना चाहती थी, किन्तु उसका अवश शरीर शिथिल-सा होने लगा।

सुकान्त ने कहा—'चुपचाप पड़ी रहो। मैं पंखा करता हूँ, शर्माती क्यों हो ? बीमारी सबको होती है।'

'मैं दुखिया हूँ।'—और कुछ शायद वह कहना चाहती थी किन्तु उस समय तो केवल इतना ही कह सकी।

सीमित हास्य से जमींदार का मुँह उज्ज्वल हुआ, मानों कह रहा हो—इस बात को मैं जानता हूँ अभागिनी, और भली-भाँति जानता हूँ।

ज़मींदार शान्त भाव से बैठ उसके सर को थपथपाने लगे।

× × ×

सुकान्त भोजन पर बैठे थे। हरमोहिनी कुछ थोड़े-से गहनों को खुशी भरी दृष्टि से देख रही थी।

दो हार थे, दो जोड़ा चूड़ा और दो जोड़ा इयररिंग। सब जोड़ियाँ एक प्रकार की थीं।

'इतना खर्च क्यों किया बेटा ? यदि कविता को कुछ देना था तो कुछ थोड़ा-सा देते।'—बोली हरमोहिनी।

'ज्यादा क्या है माँ ! काँच की चूड़ियां न पहनकर इन्हें पहन लेगी। दोनों बहनें यों हो खाली हाथ रहती हैं, इससे कुछ बनवा दिया।'

'ईश्वर तुम्हारी रक्षा करें, दिन-दिन उन्नति हो। मेरी कविता दुःखिनी है ! कभी भी उसे अच्छे कपड़े, जेवर नहीं दे सकी। मैं दुखिया पाती कहाँ से ?'

'कोई बात नहीं माँ, मैं तुम्हारा लड़का हूँ, तुम्हारा देना और मेरा देना कहीं दूसरा थोड़े ही है।'

'तुम ऐसे ही हो बेटा।' और इसके बाद एक बार फिर से आशीर्वाद का पर्व शेष कर हरमोहिनी ने पूछा—'दो-दो जोड़े हैं। किसके-किसके लिए हैं?'

'दोनों बहनों के हैं।'

विस्फारित नेत्र से हरमोहिनी कहने लगीं—'नीलिमा के लिए? वह तो बाल-विधवा है भैया! अदृष्ट में यदि खाना-पहनना लिखा होता तो सुहाग क्यों छिन जाता? जैसी करनी कर आई थी वैसा भोग रही है।'

'जानता हूँ—वह विधवा है। यदि हाथ, गले में कुछ डाल लिया तो हानि क्या है? अभी उसकी अवस्था है ही क्या? कितनी तो उस जैसी लड़कियाँ क्वारी हैं। बाल-विधवा है तो क्या हुआ, विवाह हो जायगा, जाने कितने ऐसे विवाह हुआ करते हैं। और होना भी चाहिए।'

'कलियुग अनाचार का युग है अभी हुआ क्या है और भी होगा। विधवा का ब्याह! छिः छिः, कैसी घृणा की बात है।'

'नहीं माँ, इसमें घृणा कुछ नहीं।'

'नहीं बेटा, क्रिस्तान लोग एक छोड़कर दस बार शादी किया करें, मुझे क्या। वे ईसाई हैं उन्हें सब सोहाता है। मैं हिन्दू स्त्री ठहरी। हे राम, और भी जाने क्या देखना पड़ेगा।'

सुकान्त मुस्कराये—'आप भूल कर रही हैं। यदि हम नीलिमा का पुनर्विवाह कर दें तो इसमें पाप नहीं पुण्य है। आप ही कहिए न, उस बाल-विधवा का जिसने कि पति को पहचाना

नहीं ; दुनिया का कुछ जाना नहीं ; न लिखी-पढ़ी है और किसी शास्त्र, धर्म-ग्रन्थ का, यहां तक कि अपने निजी धर्म से भी जिसका परिचय मात्र नहीं है, ब्रह्मचर्य जिसके पास एक जटिल समस्या-सा है, उसका जीवन बीतेगा कैसे ? उसे अवलम्बन के लिए भी तो कुछ चाहिए न ?'

'क्यों, जैसे दूसरी विधवाएँ जिन्दगी काटती हैं; पूजा-पाठ व्रत नियम करके वैसे वह भी काटेगी ।' तीव्र स्वर से हरमोहिनी बोलीं ।

'कैसे काटेगी ? वह तो किसी को पहचानती हैं न ? नहीं कैसे ? मैं कहता हूँ उन सबके अवलम्बन के लिए कुछ है और अवश्य है । किसी के पुत्र-कन्या हैं, जो माता बन पाई है उसे तो किसी प्रकार की बाहरी सहायता की जरूरत ही नहीं पड़ती । किसी ने सेविका का जीवन अपना लिया है, उसे उसी प्रकार शिक्षा दी गई है । कोई ब्रह्म को पाने के लिए व्यस्त है, उसमें सार समझ चुकी है, कोई मुक्तिमार्ग की पथिक है, कोई दर्शन, कोई साहित्य आदि की चर्चा में लगी है, क्योंकि उसे वह समझती है, किसी के हृदय में पति की स्मृति है, और वह उस स्मृति को यथेष्ट समझती है । मैं पूछता हूँ, आपने अपनी लड़की के लिए और बाल-विधवा लड़की के लिए कौन-सा मार्ग चुन दिया है ? अक्षर से जिसका परिचय नहीं कराया गया, उससे ब्रह्मचर्य पालन करने की आशा करना पागलपन नहीं तो क्या है ?'

हरमोहिनी चिढ़ीं तो ऐसी चिढ़ीं कि वहाँ से उठकर चली गईं ।

खीर का कटोरा हाथ में लिये द्वार पर खड़ी नीलिमा सब बातें सुन रही थी, सुन नहीं, वरन् निगल रही थी, वह वहाँ से हट गई ।

सुकान्त चुपचाप भोजन करने लगे । समझने में देर न लगी कि वाद-प्रतिवाद करना हरमोहिनी के निकट कलह का रूपान्तर मात्र है । चुपचाप भोजन कर वह उठ गये ।

कविता को गहने पहनाकर हरमोहिनी को सन्तोष न मिला तो घर की दास-दासियों को एकत्रित कर दिखाने लगीं ।

कहने लगीं—'गहने पहनकर कविता कैसी अच्छी लग रही है, गुड़िया-सी ।'

विरक्त स्वर से कविता बोली—'छि:, क्या कह रही हो माँ । यदि ऐसा कहोगी तो उतारकर फेंक दूँगी । गहने मुझे अच्छे नहीं लगते । तुम चिढ़ने लगीं तो पहन लिये ।'

हरमोहिनी ने अपने को रोक लिया, यद्यपि कुछ कहने के लिए ओंठ ऐंठ रहे थे । दासी-चाकर की भीड़ थी । भीड़ का सम्मान रखने के लिए उन्हें चुप भी रहना पड़ा । नीलिमा के गहने कविता उसके सन्दूक में रख आई ।

माँ बोलीं—'उसके सन्दूक में क्यों रखती हो—गहनों को वह क्या करेगी ?'

'रहने दो उन्हीं के सन्दूक में ।'—और फिर उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना कविता वहाँ से चली गई ।

पूर्णिमा के पूर्ण यौवन की रात थी । रूप की अपूर्व छटा उसके सारे अंग से विकीर्ण हो रही थी । उस रूप-ज्योति में चातक की अनन्त प्यास बुझ-सी गई थी । और उस रुपहली जाल

में बैठी भूली-सी कोकिला पुकार रही थी—कु-ऊ, कु-ऊ।

उस कूक को सुनकर विरहिनी पृथ्वी शायद एक बार रोमाञ्चित हो उठी। और रात की सुषुप्ति एक बार सिहरी-सी।

गहरी नींद में, चाँदनी की गोद में पृथ्वी अचेत पड़ी थी। जल-स्थल, आकाश आराम से झपकियाँ ले रहा था, केवल जाग रही थी वह पृथ्वी से छिपकर, घर के कोने में बैठी आँसू बहा रही थी नीलिमा, बार-बार सन्दूक की ओर देखती एवं सिसकने लगती। कोहेनूर था उसके घर में, बिलकुल हाथ के पास। वही कोहेनूर, जिसे पाने के लिए बड़े-बड़े राज्य मिट जाते हैं। जिसे पाने के लिए सभ्यता असभ्यता का घना आवरण मुँह पर डाल लेती है। जिसे लूटने के लिए राजा भी कभी तस्कर बन जाता है। था वहीं कोहेनूर उसका अपना कोहेनूर और बिल्कुल पास।

न यह चोरी थी, न लूट। बरन् एक का उपहार था, आतुर स्नेह का चिह्न था। यह सब कुछ ठीक था, किन्तु फिर भी उस कोहेनूर को छूने का अधिकार उसे नहीं था।

एक बार द्विधा किया-न-किया, नीलिमा ने सन्दूक खोल डाला। सामने एक सेट गहने रखे थे। उनके कारुकार्य ने, चमक ने, उसके नेत्र-पल्लवों को आबद्ध-सा कर लिया, कोहेनूर—उसका कोहेनूर।

नीली के अन्तर की नारी धीरे-धीरे असहिष्णु होने लगी और हृदय की युवती नारी आहत-अभिमान से उस छोटी-सी छाती के भीतर सिर पीटने लगी। निषेध की कठोरता उसे

उत्तेजित करने लगी, नियम का बन्धन उसे दुर्विनीत करने लगा। और द्विविधा करने लगा उसे अनिष्ट, उसके बाद हृदय की आहत, नग्न नारी संयम के बाहर आकर खड़ी हो गई। चहुँओर की वायु भारी होगई, कोहेनूर की दीप्ति फैलने लगी। उस वायु में अनेक दीर्घ श्वास, अनेक उपेक्षा, अनेक अभिमान मँडराने लगे। नीलिमा ने दोनों हाथ से मुँह ढाँक लिया, नहीं-नहीं, वह देखना नहीं चाहती, कुछ सुनना नहीं चाहती, वह दुनिया में रहना चाहती है नीलिमा होकर, विधवा नीलिमा होकर।

नीलिमा ने आँखों पर जोर से हाथ दबा लिये, उसे लगा कोई ऐसा भी आकर्षण उन गहनों से निकल रहा है जो कि अभी-अभी उसे निगल जायेगा। उसका जी चाहने लगा उन्हें एक बार और देखने के लिए, उसकी बाँह शिथिल हो गई, आँखें फाड़-फाड़कर वह गहने देखने लगी, देखते-देखते दोनों हाथ से गहनों को समेट लिया जोर से, हृदय से चिपका लिया, चिपका लिया। उसे लगने लगा अभी-अभी कोई डाकू आ जायेगा और उसके कोहेनूर को उससे छीनकर ले जायेगा।

कान में कोई कहने लगा—'मत छुओ, मत छुओ, निषेध है।'

'निषेध ? हाँ, निषेध-निषेध।' नीली के अन्तर की नारी दुर्निवार होने लगी—उस निषेध को लाँघने के लिए। निषेध, निषेध केवल निषेध, रूखा-सूखा, नीरस निषेध। वह दोनों हाथों से ढूँढ़ने लगी, ज़रा-सी सहृदयता, उस निषेध में ढूंढ़ने लगी सहृदयता को, सब कुछ व्यर्थ हो गया, न मिल सकी थोड़ी-सी

सहानुभूति, थोड़ी-सी करुणा, कल्याण, ज़रा-सा आँसू। नहीं, कुछ नहीं। सामने आ गया—निषेध, कठोर निषेध और निषेध अवमाननाकारी के लिए कठोर दण्ड।

हृदय से हटाकर गहनों को आँख के सामने रख लिया। विभोर होकर पिया देखने लगी। न द्विधा किया न संकोच। हाथों में चूड़ियाँ डाल लीं, गले में हार, इयररिंग पहनकर आइने के सामने खड़ी हो गई।

हो तो गई खड़ी, किन्तु इस नीलिमा को वह पहचान न पाई। जल्दी से उसने बत्ती बुझा दी, अन्धेरे कमरे में खिड़की से होती हुई एक टुकड़ा चाँदनी कमरे में लोट पड़ी और नीलिमा उस छोटी-सी चाँदनी में बैठ गई——बिल्कुल उससे सटकर। चाँदनी से वह मित्रता करने लगी। पाया उसने इतनी बड़ी दुनिया में उस मुट्ठी भर ज्योत्स्ना को अपनी साथिन। चाँदनी उससे ऐसी लिपटी मानों उसके जन्म-जन्मान्तर की परिचिता हो। नीलिमा अपने अणु-परमाणु में एकान्त रात की मुस्कराती सी चाँदनी को भर लेना चाहने लगी। धीरे-धीरे चाँदनी उससे हटने लगी और क्रमशः लोप हो गई। विकल नीलिमा उस अन्धेरे कमरे में उसे ढूँढ़ती फिरने लगी। नीलिमा ने द्वार खोला शायद उस चाँदनी को पकड़ना चाहती हो। छत पर रुपहली चादर बिछी हुई थी। नीलिमा मुस्कराई—मुझे छकाकर कहाँ भगोगी ? छत के बीच में नीलिमा आकर खड़ी हो गई। ठीक उसी पल में सामने का द्वार खुला। नीलिमा भागना चाहने लगी। किन्तु भागकर जाती कहाँ ? सुकान्त तो उसके सामने

आकर खड़ा हो गया था न ? और उसकी चाँदनी सखी भी मुस्कराने में लग पड़ी थी न।

: १४ :

'क्या वालटेयर जाना न होगा ?'

'जाने कैसी बातें करते हैं आप जीजा जी, ज्वर के मारे दीदी बेसुध पड़ी हैं। आप जाने की धुन में हैं। वह अच्छी हो जायँ, फिर कभी चले चलेंगे।'

बातें हो रही थीं विभूति और पपीहरा में।

'वक्त समझकर बीमार पड़ गई।'

'बीमारी कुछ कह-सुनकर थोड़े ही आती है। पड़े रहते किसी को भी अच्छा लग सकता है ? आप भी जाने क्या कह देते हैं जीजा !'

'मैं ठीक कह रहा हूँ पिया।'

'ठीक कह रहे हैं !' बीमार पड़ना भी कोई चाहता है ?' —आश्चर्य से पिया बोली।

'यही कह रहा हूँ। उन्हें पसन्द है। ठंड के दिन में महीन कपड़े पहनना, दिन में पचास-पचास बार साबुन रगड़ना। यह सब अत्याचार जायगा कहाँ ?'

दीप्त स्वर से पिया ने कहा—'साबुन लगाकर स्नान करना आपकी दृष्टि में निन्दनीय हो सकता है, किन्तु सफ़ाई के लिए साबुन की जरूरत पड़ ही जाती है। और कपड़े जब कि भद्रता

की, सभ्यता की देन हैं, फैशनेबल वस्त्र, तो उसकी देन हमें लेनी ही पड़ती है। इस बात को आप जैसे शिक्षित, सभ्य कदाचित् अस्वीकार न कर सकेंगे।'

'लो! कहना मैं कुछ चाहता हूँ और समझ रही हो तुम कुछ। सभ्यता-सभ्यता-सभ्यता, बस इसी सभ्यता के लिए केवल तुम्हारी दीदी से मेरी नहीं पटती। मतभेद होता रहता है। मेरा तो कहना है सभ्यता को देन हम सभ्य, सुसंस्कृतों को है ही, सभ्य रीति से रहो, भद्र समाज में मिलो, पर्दा छोड़ो, उधर उन्हें पसन्द पुरानी रीति। कुसंस्कारों में जकड़ी रहना ही तुम्हारी दीदी चाहती हैं, पड़ी तो हैं, पूछो न उनसे। सच कह रहा हूँ या झूठ, पूछो-पूछो—'

पलंग पर पड़ी यमुना ने एक बार भाव-शून्य नेत्र से पति को देखा, उसके बाद आँखें बन्द कर लीं।

उसने हाँ भी नहीं किया, नहीं भी नहीं। बन्द कर लो आँखें—इस तरह जैसे कि बहुत थक गई हो।

'कहो न, आँखें क्यों बन्द कर लीं?'—विभूति ने अपना प्रश्न दुहराया।

उत्तर? नहीं, इस बार भी किसी ने उत्तर न दिया। बोल उठी पपीहरा—'किन्तु जीजा, अभी कुछ पहले आप जो कुछ कह गये उससे तो कुछ और ही मतलब निकलता है।'

'तुम स्त्रियों में यही तो एक बात है। जल्दी से रिमार्क पास कर देना, न कुछ समझना न सोचना। कहना केवल चाहता था कि ऐसे वक्त उन्हें कुछ सावधान रहने की जरूरत थी, नियम से रहना था। स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए, हमें

चाहिए कि जब जिस चीज़ की उसे ज़रूरत हो तब वह देना, प्रत्येक वस्तुएँ नियम पर बँधी हैं । सब बातों की सीमा है। स्वास्थ्य को जब उष्णता की ज़रूरत पड़ती है तब हमको चाहिए उसे उष्णता देना; ठण्ड के दिन में गरम वस्तु की व्यवस्था इसीलिए है । तुम तो सब जानती हो ।'

'मैं कभी गरम कपड़े नहीं पहनती ; कहिए कभी बीमार पड़ते देखा है मुझे ?'

'अपनी बात कर रही हो ?'—अत्यन्त विस्मय के स्वर में विभूति कहने लगा—'तुम्हारे साथ और किसी की तुलना कैसे हो सकती है, पिया ? इस सभ्यता के युग में तुम हो एक आदर्श नारी। न कुसंस्कार, न किसी प्रकार के नियम बन्धन तुम्हें बाँध सकते हैं। भरी-नदी-सी, अपने गान में मस्त बहती चली जाती हो । उस गान में स्वयं-सन्तुष्ट हो । दुनिया उस गान को सुनने के लिए आतुर रहती है। तुम्हारी तुलना हो सकती है, किसी से ? मित्रों में जब कोई बात उठ पड़ती है, तो असंकोच तुम्हारा नाम लेता हूँ । सभ्यता मार्जित रुचि, कल्चर्ड सब बातें तुममें हैं, कौन-सी स्त्री तुम्हारी तरह है ?'

पिया चुप रह गई । अभी-अभी जो पिया विभूति से विरक्त थी, व्यंग परिहास से उसे वेध रही थी, वही पिया चुप रह गई। उसके मुख पर प्रसन्नता की मुसकान थिरकने लगी, केवल इतना ही नहीं, वरन् उस स्तुतिवाद को पुनः-पुनः सुनने के लिए उसका जी चाहने लगा।

देर के बाद कुछ कहने के लिए पिया ने मुँह उठाया, परन्तु विभूति की उस अभद्र दृष्टि के सामने उसका मन जाने कैसा

व्यस्त-सा होने लगा। पपीहरा उठी और अनमनी-सी बाहर निकल गई।

उस दिन का सबेरा वर्षा की बूंदों से किलकारियाँ करता थका-माँदा मुरझाया-सा आया।

यमुना अच्छी हो चली थी, उसे दवा पिलाकर पपीहरा बाहर के कमरे में बैठी थी। उसका मन उदास था—बहुत उदास। कई दिन से काका का पत्र मिला नहीं। मन में न जाने कैसी-कैसी अमंगल-चिन्ता उठने लगी। पिया उठकर अस्थिरता से कमरे में टहलने लगी। मन और खराब हो गया तो चाबुक उठा लाई, बाहर जाने की तैयारी करने लगी। बाहर की ओर देखा, फिर कुर्सी पर बैठ गई। निःशब्द गति से विभूति उसके पीछे आकर खड़ा हो गया। दो मिनट चुपचाप खड़ा रहा। इसके बाद अनायास उसके हाथ पिया के कन्धे पर चले गये। दुर्गन्ध से कमरा भर उठा। पिया चौंकी, एकदम उठकर खड़ी हो गई।

कठोर स्वर से पिया ने पूछा—'आप शराब भी पीते हैं जीजा ?'

अम्लान स्वर से विभूति कहने लगा—'शराब पीना क्या अपराध है ?'

पिया उसका मुँह निहारने लगी।

'ज़रा-सी पियोगी, पिया ? ऐसी चीज़ दुनिया में है नहीं। ज़रा चखकर देखो।'

जेब से 'ब्रांडी' की बोतल निकालकर विभूति ने टेबिल पर रख दी।

दुर्निवार क्रोध, विस्मय से पिया उस ओर देखती रह गई। जड़ित स्वर से विभूति कहने लगा—'बादल का कैसा अच्छा दिन है आज पिया, और तुम बैठी किताब पढ़ रही हो ? कोई गाना गाओ, नाचो, प्रेम की गाथा सुनाओ। सो कुछ नहीं, किताब पढ़ना, कैसी गन्दी रुचि है। आओ गोद में बैठ जाओ, मैं ही कोई ग़ज़ल सुनाऊँ।'

'और कुछ सुनना मैं नहीं चाहती। इस वक्त आप चुप-चाप जाकर कमरे में पड़ रहिए।'—हाथ उठाकर उसने द्वार दिखलाया—'चले जाइए !'

जल्दी से विभूति ने उसका हाथ पकड़ लिया,—अत्यन्त विनय के साथ कहने लगा—'मेरा हृदय सूना है पिया, एकदम सूना। उस सूने हृदय की रानी एक तुम ही बन सकती हो। आओ रानी, इस सिंहासन पर आसन जमाकर बैठो। शर्म कैसी ? ये नखरे मैंने बहुत देखे हैं। आलोक, रमेश जैसे लफंगे छोकड़ों के पास दौड़ी-दौड़ी क्यों जाती हो ? घर में तो तुम्हारा सेवक बैठा है। लौटकर देखो भी तो सही, देखो, देखो !'

झटके से पिया ने हाथ खींच लिया। उसका खून खौल-सा उठा। चाबुक उठाया—एक-दो-तीन। इसके बाद गिनने का अवसर न रहा। पटापट चाबुक पड़ने लगे—विद्युत-सी तीव्र गति से।

उस सबल कर-प्रहार से विभूति अपने को न बचा सका। भागने की चेष्टा व्यर्थ गई। चाबुक के उस व्यूह में क्षत-विक्षत, चकराया-सा विभूति खड़ा रह गया।

ठीक ऐसे ही समय, कमरे में प्रवेश किया निशीथ ने।

कुछ देर प्रशंसापूर्ण दृष्टि से उस दृश्य को देखता रहा। उसके बाद विभूति को हटाकर सामने खड़ा हो गया—'बस करिए पिया देवी। विभूति-जैसे पशु के लिए मैं हूँ। बैठकर विश्राम करो। मुझे आज्ञा हो तो मैं सब कुछ करने के लिए तैयार हूँ, कह भर दीजिए।'

आरक्त नेत्र से विभूति उन दोनों को देखने लगा। आज सर्व-प्रथम निशीथ ने इस अविनीत स्त्री के प्रति श्रद्धा अनुभव की।

पिया चुपचाप कुर्सी पर बैठ गई।

एक निर्लज्ज हँसी के साथ विभूति बोला—'स्त्रियों की समझ भी कैसी उल्टी होती है निशीथ। जरा दिल्लगी की, आप समझ बैठीं कुछ और, ईश्वर ने न जाने किस पदार्थ से इन्हें सृजा है। देख रहे हो न निशीथ ?'

'इस देवी के सामने से तुम हट जाओ विभूति और मेरे सामने से भी।'

'चला जाऊँ ? पर इस घर में हुकूमत करनेवाले तुम कौन होते हो ?'

अकड़कर निशीथ खड़ा हो गया—'सब कुछ। नारी का अपमान करनेवाले पशु को दूर करने का अधिकार मनुष्य मात्र को है और इस बात को प्रत्येक मनुष्य जानता भी है; किन्तु तुम हो उसके बाहर के जीव, बस सीधे चले जाओ!'

'नहीं जाऊँ यदि ?'

'चले जाओ, मैं कहता हूँ जाओ!'

'अच्छी दिल्लगी है, दूसरे के घर बैठकर उसी पर हुकूमत

चलाना !'

'चाहे जो कुछ समझो।'

'न तुम्हारे कहने से जाता और न तुमसे डरता हूँ। काम है और इससे मुझे जाना पड़ रहा है।'—विभूति निकलकर चला गया।

निशीथ ने कहा—'इस चाबुक के लिए पहले न जाने कैसे-कैसे परिहास कर चुका हूँ पिया देवी। आज मेरा प्रायश्चित्त का दिन है। मेरा भ्रम निकल गया। आज का दिन मेरे लिए शुभ होकर आया है, शक्ति और देवी के दर्शन साथ हो गये। क्या उन दिनों के लिए आप मुझे क्षमा नहीं कर सकतीं?'

'क्षमा!'—परिहास से पिया का स्वर मचलने लगा। 'और आज मिनट भर में आप समझ गये कि वह भ्रम था? बड़े अचरज की बात है। मनुष्य को समझना कदाचित् ऐसा सहज नहीं भी हो सकता है निशीथ बाबू!'

निशीथ देर तक चुप रहा। जब वह बोला तब उसका स्वर दर्द से भरा हुआ था—'नारी के वास्तविक रूप को देखने का सौभाग्य जब अचानक ही मिल गया तो उस समय मैं अपने को सँभाल न सका। न जाने क्या-क्या बक गया। यदि आप सचेत न कर देतीं, तो और भी न जाने क्या बक जाता। भूल गया था कि आप मर्द-मात्र से घृणा करती हैं।'

पिया ने दूसरी ओर मुँह फेर लिया।

'एक बात मैं पूछ सकता हूँ?'—निशीथ ने कहा।

'कहिए।'

'विभूति बाबू क्या अब भी यहीं रहेंगे?'

'शायद ।'

'इस घर में उनका रहना शायद ठीक न हो ।'

अनायास पिया ने उत्तर दिया—'हानि क्या है ?'

'और पहाड़ पर जाना ?'

'न होगा । दीदी बीमार पड़ गईं न ।'

'यमुना देवी ? अब कैसी हैं ?'

'अच्छी हैं, कमजोरी अधिक है । ज़रा चलने-फिरने लगें तो उन्हें ससुराल भेजकर मैं गाँव चली जाऊँगी । काका के पास । उनके लिए मेरा जी घबराता है ।'

'साथ में कौन जा रहा है ?'

'आपके साथ चलूँगी ।'

कहने को तो पिया कह गई 'आपके साथ', निशीथ की समझ में बात न आई कि पिया व्यंग कर रही है या सच कह रही है ।

निशीथ को उठते देखकर पिया ने पूछा—'आप जा रहे हैं ?'

'चलूँ न ?'

'अच्छी बात है । कभी-कभी आ जाइएगा ।'

निशीथ को अपने कानों पर विश्वास न आया कि उससे आने के लिए अनुरोध किया जा रहा है, और अनुरोध करने वाली कोई दूसरी नहीं स्वयं पपीहरा है । कुछ कहने के लिए वह लौटा, किन्तु पिया तब तक भीतर चली गई थी ।

दूसरे दिन सबेरे पिया ने सुना, विभूति घर पर नहीं है, रात से उसे किसी ने घर देखा नहीं ।

पपीहरा पड़ गई संकट में, अब यमुना से कहा क्या जावे ? कौन-सी कहानी रचकर सुनाई जावे ?

नौकर दौड़ा आया—यमुना उसे बुला रही है।

यमुना के पास वह चली गई और सहज भाव से कहा—'बुखार आज भी नहीं आया। अब न आवेगा।'

यमुना केवल बोली—'हूँ।'

'ज़रा और अच्छी हो लो, तो काका के पास चली चलें, गाँव मैंने कभी देखा नहीं।'

'सुन लिया है न, वह रात से घर नहीं हैं।'

'घर चले गये होंगे।'

'किसी से कहे बिना ही ?'

'तुम भी नाहक सोच में पड़ी हो, अरे क्या वह कहीं भाग गये ?'

'नहीं, फिर भी इस तरह से जाना, मुझे तो जाने कैसा लग रहा है ?'

'लगने को क्या है। घर से कोई जरूरी सन्देशा आ गया होगा और रात में उन्हें चले जाना पड़ा।'

'मुझे तो कहते।'

'तुम सो गई होंगी, ऐसी कमज़ोरी में उन्होंने जगाना ठीक न समझा होगा।'

'न जाने बहन, क्यों जी धड़क रहा है। लगता है कोई संकट आने को है। क्या बात है सो कैसे जानें ?'

'यह सब दुर्बल मस्तिष्क का विकार मात्र है, तुम भी जाने क्या सोचती हो दीदी !'—पिया ज़ोर से हँसने लगी।

कल की बात वह यमुना से छिपाना चाहती थी, कहने लगी—'कैसी पागल हो तुम दीदी, यदि जीजा संकट में पड़ते तो हमें खबर न होती ! लो मैं आज ही उनका पता लगाती हूँ। आज पार्टी है, वहाँ चली जाऊँगी, उनके मित्रों से पूछ लूँगी, तार तुम्हारी ससुराल में भी डाल देती हूँ।'

मिस्टर रसल के घर पार्टी में जाकर निशीथ निर्वाक् रह गया। टेबिल पर बैठी पपीहरा चाय पी रही थी। ईसाई के घर बैठकर हिन्दू स्त्री का चाय पीना, छि:—घृणा से निशीथ सिहरने लगा। गम्भीर मुख से वह टेबिल पर बैठा, एक केला खाया और बस।

'चाय न पियेंगे ?' पिया ने पूछा।

'नहीं। मैं हिन्दू हूँ, दूसरे के घर पानी कैसे पी सकता हूँ ?'

पपीहरा मुस्कराई—'हिन्दू तो शायद मैं भी हूँ निशीथ बाबू !'

'अपनी-अपनी रुचि तो है।'

'और निष्ठा, संस्कार।'—पिया ने जोर दिया।

निशीथ तिलमिलाया, मानों अभी-अभी उसे बिच्छू ने डंक मारा हो।

निशीथ ने कहा—'यदि ऐसा हो तो अपने को धन्य समझना चाहिए। हिन्दू के लिए निष्ठा, संस्कार कोई हँसने की बात नहीं है, वरन् गर्व की बात है।'

'तो मैं कब कहती हूँ उस पर हँसी ही उड़ाई जावे ? वैसे तो यह भी हँसने की बात नहीं है कि प्रत्येक जाति को हम मनुष्य की जाति ही कहेंगे—पशु, राक्षस की जाति नहीं। ऐसी

स्थिति में श्रद्धा, सम्मान यदि अपने आप आकर अड़ जावे—उसी मनुष्य जाति के लिए, तो इसमें भी समालोचना की जगह नहीं रह सकती। हम भी मनुष्य की जाति हैं और कदाचित् आये भी उस एक स्थान से होंगे।'

'ऐसा मैं नहीं कहता पिया देवी, कि हम निष्ठावान् हिन्दू अछूत की समालोचना, घृणा किया करें, नहीं; परन्तु निष्ठा एक दूसरी चीज़ है। जिस यज्ञोपवीत को हम गले में डाले हैं उसका सम्मान भी तो हमें रखना है न? यदि शरीर अपवित्र हो जायगा तो उस पावन जनेऊ को हम गले में रख कैसे सकेंगे; और फिर उस अशुचि शरीर से ठाकुरजी को भोग कैसे लगा सकेंगे?'

पिया हँसी, न ज़ोर से, न खिल-खिलाकर; वह हँसी धीरे—बहुत धीरे।

'आप हँसती हैं?'

'नहीं, मुझे आश्चर्य केवल इस बात पर है कि यदि ईश्वर महान् है, तो वह किसी जाति-विशेष के कठघरे में बन्द कैसे रह सकता है? यदि वह निर्विकार है, तो जीवमात्र का क्यों नहीं है? यदि मनुष्यमात्र की आत्मा है, तो वह आत्मा अशुचि हो ही कैसे सकती है? आत्मा तो ईश्वर का अंश है न? जनेऊ? किन्तु मैं पूछती हूँ, दुनिया के साथ हमारा प्रथम परिचय आरम्भ हुआ कैसे? मनुष्य के नाते या जाति के नाते? कहिए-कहिए।'

'मनुष्य के नाते।'

'आप ही कहिए कि अब किसे माना जावे, मनुष्य की

वास्तविक मर्यादा को या मनुष्य के बनाये हुए जाति-विचार को ?'

'मेरी भी कुछ सुनिए।'

'कहिए न, सुन तो रही हूँ।'

'महाप्रलय के बाद जब पुनः सृष्टि आरम्भ होती है तब न किसी नियम का रहना सम्भव है, न शृङ्खला का। किन्तु जब धीरे-धीरे सभ्यता से उस सृष्टि का परिचय हो जाता है, तब नियम, शृङ्खला में वह सृष्टि जकड़ जाती है और उस सभ्य जगत् के जीव वास्तविक स्थिति को पहचानने लगते हैं; शुचिता, निष्ठा की मर्यादा को समझने लगते हैं।'

'मर्यादा नहीं, अमर्यादा कहिए, अपमान कहिए। याने जब मनुष्य सभ्य हो जाता है तब वह अपने आपका अपमान करने लग जाता है।'

'अपने आपका अपमान ?'

'हाँ-हाँ, अपने आपका अपमान। वरन् यों कहिए कि साथ-ही साथ उस अनन्त ब्रह्म और उसकी सृष्टि का अपमान करने लगता है।'

'प्राच्य और पाश्चात्य सभ्यता अलग-अलग है। आप पाश्चात्य सभ्यता से भली-भाँति परिचित हैं, किन्तु प्राच्य सभ्यता से नहीं। जिस दिन आप उसे समझने लगेंगी, उस दिन मेरी बातों को भी समझने लगेंगी। अभी तक ऐसे-ऐसे अत्याचार के बाद भी जो हिन्दुस्तान आज भी जीवित है, वह केवल निष्ठा और धर्म के बल पर।'

'क्षमा करें निशीथ बाबू। उस सभ्यता को मैं दूर ही से

नमस्कार करती हूँ, जो सभ्यता हमें अपने आपको घृणा करना सिखावे।'

'आप फिर भी वही बात करेंगी। घृणा कैसी ? यदि अपने विश्वास की तरह किसी ने किसी का बनाया भोजन न किया तो उसे आप घृणा कैसे कह सकती हैं ? बिना नियम के कहीं सृष्टि भी पली है ? प्रत्येक देश, प्रत्येक वस्तु नियम और शृङ्खला के बल पर जीवित है।'

'होगा भी, मुझे देर हो रही है, दीदी अकेली हैं। चलिए, मुझे पहुँचाना है।'

'मैं'—निशीथ इस तरह चौंका कि पिया खिलखिला पड़ी।

पिया उठी और साम्राज्ञी की तरह चल पड़ी, पीछे लौटकर भी न देखा कि निशीथ उसका अनुगामी है या नहीं। वह चल पड़ी इस भाँति कि आदेश-आज्ञा देने ही के लिए पृथ्वी पर आई हो और उस आदेश को न माननेवाला दुनिया में कोई पैदा ही न हुआ हो।

ड्राइवर के पास निशीथ को बैठते देखकर पपीहरा मुस्कराई। असंकोच निशीथ का हाथ पकड़कर उसने अपने निकट बैठ लिया।

पिया के नित्य नये व्यवहार से निशीथ ऐसा विस्मित हो गया कि एक शब्द तक मुँह से न निकल सका।

'आप तो मौनी बाबा बन गये।'

'मौनी ? नहीं तो। यमुना देवी अब कैसी हैं ?'

'अच्छी हैं। जीजा का पता नहीं।'

'मेरे मित्र कह रहे थे, रेल पर उन्हें चढ़ते देखा है।'

'घर गये होंगे।'

'सम्भव है।'

'दीदी बहुत घबराती हैं।'

'उन्हें समझा दीजिए।'

: १५ :

ऐसी अनहोनी बात हरमोहिनी विश्वास नहीं कर सकती थीं और इसी से बार-बार पूछ रही थीं—'मेरी कविता, मेरी दुखिया बेटी को स्वयं जमींदार ब्याहने कहते हैं ? तुमने भूल तो नहीं सुना गोविंद भैया ? सच कहो भाई, वे स्वयं ब्याहेंगे ?'

गर्व के साथ गोविन्द ने कहा—'मैं हूँ किस लिए ? यदि बहन के काम न आया तो भाई किस काम का ? ऐसी लड़की उन्हें मिलेगी कहाँ ?'

'ईश्वर तुम्हारा भला करे भैया। मैं दुखिया हूँ। मुझे डर है—पीछे कहीं वह बदल न जावें।'

'ऐसा न होगा। हाँ वे कुछ आगा-पीछा तो जरूर कर रहे हैं।'

'ऐसी बात ? कह न रही थी।'

'नहीं-नहीं, वैसा कुछ नहीं है।'

'तो बात क्या है ?'

उन्हें विचार है सिर्फ अपनी भतीजी पपीहरा का, कि कहीं

उसे अनुचित न लगे। बहुत चाहते हैं न उसे। तुम इधर की तैयारियाँ जल्दी कर लो जिससे अगले सोमवार तक शादी हो जावे।'

'अच्छी बात है, मैं सब कुछ कर लूँगी।'—बहते हुए आनन्द-अश्रु को पोंछती गृहिणी काम में लग पड़ीं।

बात फैलते देर न लगी। कविता ने सुनी। बोली कुछ नहीं, न मुख-भाव का ही परिवर्तन हुआ। केवल उसका स्वाभाविक गाम्भीर्य और ज़रा बढ़-सा गया। और बस इसके बाद कोने के कमरे में, किताबों के बीच वह ऐसी डूबी कि उसे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते सारा घर हैरान हो गया। जब वह वहाँ मिली तो हरमोहिनी ने अपना सिर पीट लिया। चिल्लाकर कहने लगीं—'दो दिन पीछे जिसे राज-रानी होना है उसका ऐसा अनादर ? पाँच हाथ की जवान लड़की बैठी है, न कुछ देखना, न सुनना। ऐसा नहीं होता कि चलो छोटी बहन को तो ज़रा देखूँ। बस, खाना, सोना और ठिठोलियाँ करना। सुकान्त ज़रा हँसकर बातें कर लेता है न, तो आप सरग पर चढ़ी चली जाती हैं। नहीं समझती कि यह सब सुख-आराम किस लिए मिल रहा है। उसी छोटी बहन के लिए न ? वरना तुझे पूछता कौन ? अँधेरे कमरे में लड़की भूखी-प्यासी पड़ी है और आप अटारी चढ़ी बैठी हैं। धिक्कार है, धिक्कार, धिक्कार !'

'दीदी बेचारी को क्यों बक रही हो माँ ? वह क्या जाने कि मैं यहाँ हूँ।'—कवि ने कहा।

'चलो बेटी, स्नान-भोजन करो। मैली साड़ी किस लिए पहने हो ? तुम्हारा ही तो सब कुछ है। चलो, कपड़े बदलो।

आत्मीय, कुटुम्ब आते जा रहे हैं। किताब बन्द करो।'

'इतना और पढ़ लूँ।'

'नहीं-नहीं। अब पढ़ना-वढ़ना नहीं।'

अनिच्छा के साथ कविता उठी। उसे स्नान कराकर सुन्दर वस्त्र, भूषण पहनाये गये। हरमोहिनी स्वयं उसे भोजन कराने बैठीं। दासी-चाकर पंखे झलने लगे। कोई लोटा-ग्लास लेकर दौड़ा, कोई मलाई का कटोरा लाया।

'यह सब क्या है माँ ?'—कविता ने पूछा।

माता मुस्कराईं।

'क्या मैं कोई तमाशा हूँ।'—कविता असहिष्णु हो रही थी।

'तू राज-रानी है बेटी।'

कविता के हाथ का ग्रास हाथ में रह गया। रानी—राज-रानी, क्या बात सच है ? उसके नेत्र छलछला आये। माता कह चलीं—'तेरी सेवा, तेरा सम्मान तो होने का ही है, साथ-साथ तेरी दुखिया मा-बहन का आज कितना सम्मान, आदर है, जरा देख तो सही।'

जाने बात क्या थी कि कविता के आँसू न रुके, न रुके। सबको विस्मित, स्तम्भित कर वह रोकर भागी और भागती ही चली गई।

आत्मीय परिजन और गृहिणी पीछे दौड़ीं। द्वार के सामने हरमोहिनी ने उसे पकड़ लिया, हृदय से लगाया। कहने लगीं—'ऐसे शुभ दिन में कहीं कोई रोता है ? बाप की याद आ गई होगी। क्या किया जाय बेटी। उनके अदृष्ट में लड़की का सुख,

ऐश्वर्य देखना बदा न था ।'

कविता को लेकर गृहिणी एकान्त कमरे में चली गईं ।

'रोना कैसा कविता ?'—पूछा माँ ने ।

कुछ कहने के लिए कविता हुई और फिर चुप हो गई ।

अपने आवेग में माँ कहने लगीं—'इस खुशी को मैं सहूँ कैसे ? दरिद्र की सन्तान राज-रानी बन रही है । हम होंगी रानी की माँ-बहन, हमारा दुःख-दारिद्रय सब जाता रहेगा ।'

कविता कुछ कहना चाहने लगी—उसने फिर मुँह खोला; किन्तु कुछ कह न पाई । माता के वचन उसके कानों में मंडराने लगे । सान्त्वना देने लगे—माँ-बहन का दुःख, दारिद्रय जाता रहेगा । इस जीवन के प्रातःकाल में क्या इतना ही कम लाभ है ? वह विचारने लगी —जीवन के मध्याह्न और संध्या वेला को क्या इसी महामन्त्र के बल पर नहीं काट सकूँगी ?

विवाह के दिन नीलिमा बन्द कमरे में बैठी न जाने क्या करने लगी । उधर हरमोहिनी उच्च स्वर से इस बात के प्रचार में लगीं कि यह केवल ईर्ष्या है । छोटी बहन का रानी होना उसकी आँखों में खटक रहा है । ऐसी लड़की पेट में आई कि मुझे जलाकर खाक कर डाला ।

नीलिमा की मौसी उसके रुद्ध द्वार पर खड़ी हो गईं—'बेटी नीली !' वह पुकारने लगीं ।

जब किसी ने कुछ उत्तर न दिया तो कहने लगीं—'निकल आओ । छिः, ऐसा कहीं कोई करता है ? छोटी बहन पर ईर्ष्या करना पाप है ।'

नीलिमा से जब न रहा गया तो द्वार खोलकर निकली ।

'छोटी बहन पर कहीं कोई ईर्ष्या करता है ?'—मौसी फिर से बोलीं।

'तुम भी ऐसा कहती हो मौसी ?'

'मैं तो सच कह रही हूँ बेटी।'

'क्या मैं उस पर ईर्ष्या करती हूँ ? तुम सच कह रही हो ? क्या मैं कविता पर ईर्ष्या कर सकती हूँ मौसी ? ज़रा मेरी ओर देखकर भी सच कहो।'

मौसी चकराई-सी उसका मुँह निहारने लगीं।

'दुनिया कहती है और तुम भी कहती हो मौसी, कि छोटी बहन पर मैं ईर्ष्या करती हूँ, तो इसी बात को सच रहने दो।'

'तेरी माँ ऐसा कहती है। मैं तो सुनी बात कह रही हूँ। चल बिटिया, जाने दे इन बातों को।'

'नहीं, मुझे यहीं रहने दो।'

'चल नीली, दुनिया क्या कहेगी ?'

'चाहे कुछ कहे : मैं और कितना सहूँ ? और क्या करने को कहती हो मुझे ? सबके सामने माँ सदा यों ही कहती रहती हैं। कल रात भोजन के समय वह मुझे ऐसी-ऐसी बातें ज़मींदार के सामने कहने लगीं कि वहाँ से भागते ही बना। मेरी छोटी बहन और उसी के सामने मुझे ऐसा कहा करती हैं। मैं लिखी-पढ़ी नहीं हूँ, गँवार हूँ, फिर भी आदमी ही तो हूँ न ?'

'चुप रह बिटिया, कुटुम्ब-परिजन से घर भरा हुआ है। लोग क्या कहेंगे।'

'कहेंगे यही कि बड़ी छोटी से ईर्ष्या करती है। माँ तो ऐसा सबको समझा रही हैं न ? मैं कवि को बकती-झकती हूँ

तो क्या उससे ईर्ष्या भी करती हूँ ? मुझे यहीं रहने दो मौसी ।'—वह रोने लगी ।

बड़ी मुश्किल से उसे शान्त कर मौसी उसे बाहर लाईं और साथ ले गईं ।

: १६ :

लम्बा-चौड़ा पत्र पढ़ते-पढ़ते पपीहरा मारे खुशी के उछल पड़ी । दस बार पढ़े पत्र को फिर पढ़ती, शिशु की भाँति हँस देती, कभी सिर हिलाती हुई कुछ कह उठती । इसी भाँति घंटे बीते ।

उसका ध्यान कुत्ते पर गया । कुत्ते को गोद में उठाकर पपीहरा कहने लगी—'सुनता है लूसी, काका ने शादी की है । एक सुन्दर—वन-कन्या-सी सुन्दर लड़की से । वह मुझसे ज़रा बड़ी है, ज़रा बड़ी, बहुत नहीं । और मुझसे दुबली । वह मुझे बहुत प्यार करेगी, तुझे भी । हमें अब अकेले न रहना पड़ेगा, उससे हम, तुम खेलेंगे । मैं उसे पुकारूँगी—काकी ! वह पुकारेगी—पिऊ ! टाइगर को वह चाहेगी ।'

इसके बाद प्रिया दौड़ी बाहर चली गई और जो उसके सामने पड़ा उससे कहने लगी—'काका ने शादी की है । बड़ी अच्छी लड़की है । लिखना-पढ़ना जानती है । सिलाई जानती है । सब जानती है । बस, घोड़े पर चढ़ना नहीं । दो दिन में यह भी मैं उसे सिखा लूंगी ।'

यमुना ने जब बात सुनी तो आकर खड़ी हो गई। पिया शायद देर तक यों ही बकती जाती, किन्तु सहसा उसे लगा कि आनन्द के बदले यमुना विमर्श-सी हो रही है।

पिया ने यमुना से पूछा—'जी ख़राब तो नहीं है ?'

'क्या सचमुच मामा ने बुढ़ापे में विवाह किया है ?'

पिया चिढ़ी—'बूढ़े की कौन-सी बात है। जब जिसका जी चाहा तब उसने शादी कर ली। इसमें जवान, बूढ़ा, क्या ?'

'कैसी बातें करती है पिया, इस उमर में कहीं शादी की जाती है ?'

'क्या काका बूढ़े हो गये ?'

'चालीस-पैंतालीस जिसकी अवस्था है, वह बूढ़ा नहीं—क्या जवान है ?'

'चालीस-पैंतालीस में लोग बूढ़े नहीं होते।'

'होते कैसे नहीं। उन्होंने शादी की होगी एक अठारह या बीस वर्ष की लड़की से। कहाँ अठारह और कहाँ पैंतालीस।'

'इसमें हानि क्या है ?'

'जन्म-भर तू बच्ची बनी रहेगी पिया ? आजकल मनुष्य की आयु ही है पचास वर्ष की। ईश्वर ऐसा न करे, किन्तु यदि दो-चार वर्ष में ऐसा कुछ हो गया तो लड़की अपनी उस बड़ी जिन्दगी को किसके भरोसे काटेगी ? यदि उन्हें विवाह करना था तो पहले क्यों न कर लिया ?'

'उस वक्त यदि उनका मन न चाहा हो तो इसके लिए वह क्या करते ?'

'ऐसा मन किस काम का जिसपर अपना अधिकार न रहे।'

पिया हँसी और जोर से हँसी—'तुम्हारा अधिकार है अपने मन पर ?'

'अवश्य है।'

'या तो तुम झूठ कह रही हो, नहीं तो उसके बारे में तुम अभी अनजान हो।'

'सबके मन एक काँटे पर नहीं तुल सकते पिया।'

'होगा। मैं कल जा रही हूँ, काका ने जल्दी बुलाया है। तू भी चलना दीदी भाई।'

'मैं कैसे जाऊँ ? उनका पत्र आया है, नायबजी मुझे लेने के लिए आ रहे हैं। कल सबेरे चली जाऊँगी।'

'देखूँ चिट्ठी।'

'फाड़ डाली।'

'झूठ। मैं जानती हूँ—जीजाजी की चिट्ठी तू कभी नहीं फाड़ती। उसमें जरूर कोई ऐसी बात लिखी है जो मुझसे छिपाना चाहती हो, मगर मैं पढ़कर ही दम लूँगी।'

यमुना के कमरे में पिया दौड़ी गई। इधर-उधर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते पत्र मिल गया।

बड़े आग्रह से वह पढ़ने लगी और रक्तहीन मुख से यमुना चुप बैठ गई।

पत्र पढ़कर पपीहरा गरजने लगी, सावन-भादों के मेघ-सी—'नीच कहीं का ! लिखते हैं—'चली आओ। कभी जीते जी उन कमीनों के घर जाने का नाम न लेना।' मेरे काका

कमीने हैं, नीच हैं—और वे हैं भलेमानस। छि:, छि:, कैसा असभ्य लेख है। कोई दासी-चाकर को भी इस तरह नहीं लिख सकता। कैसे मज़े से लिख रहे हैं—'अब तुम्हारा उन लोगों से कोई सम्बन्ध न रहेगा। अगर इस बात को तुम मंजूर कर सको तो चली आना, वरना तुम वहीं रह सकती हो! मुझे भी औरतों की कमी न होगी।'—दीदी, दीदी, तू रोती है? इस अपमान के बाद भी तुम वहाँ जाओगी? और हम सबको छोड़ कर रह सकोगी?'

'मुझे जाने दे पिया।'

पिया चुप रही।

'जाऊँगी। क्योंकि मुझे जाना है, और इस बात को न तू भूल सकती है, न मैं कि मुझे जाना है।'

पपीहरा अब भी कुछ न बोली।

'जन्म-भर के लिए मैं विदा माँगती हूँ रानी, केवल एक बात मुझे कह दे।'

पिया के जिज्ञासु नेत्रों की ओर देखकर यमुना ने कहा—'उनके अचानक चले जाने में कोई रहस्य अवश्य छिपा हुआ है और उसे तू जानती है। मेरा अन्तिम अनुरोध है, उस रहस्य को मुझसे छिपाओ मत बहन। यह मेरा अन्तिम अनुरोध और विनय है।'

दृढ़ स्वर से पिया ने उत्तर दिया—'रहस्य तब तक आकर्षक रहता है जब तक कि वह रहस्य रहे। और उसके खुल जाने से तो एक साधारण-सी बात हो जाती है। उस जानने में यदि रहस्य है तो उसे रहस्य ही रहने दो। दूसरी बात, जब मैं

कुछ जानती नहीं तब तुमसे कहूँ क्या ? तो तुम उनकी शर्तों को मानकर जा रही हो ?'

यमुना मुँह छिपाकर रोने लगी। उत्तर देने की चेष्टामात्र न की। उत्तर देती ही क्या ?

पपीहरा को भी रोना आ गया। आँखें पोंछकर बोली—'परन्तु मैं ऐसा नहीं कर सकती थी, जिस काम को तुम सहज में कर रही हो उसे मैं किसी तरह भी नहीं कर सकती थी दीदी !'

'मुझे क्षमा करो बहन।' बोली यमुना बहुत धीरे।

'क्षमा ? तो किसलिए ? अपनी-अपनी रुचि है, दुःख को तुम जीतना नहीं जानती हो, जानती हो उसमें पिसकर निश्चिह्न हो जाना।'

यमुना वैसे ही सिसकने लगी।

'जाओ दीदी। मैं भी तुम्हें वचन देती हूँ, इस घर में तुम्हें लाकर ही छोड़ूँगी।'

भीत यमुना कह उठी—'झगड़ा-लड़ाई करने से मेरा दुःख बढ़ जायगा।'

पिया मुस्कराई—'इस बात को मैं भली-भाँति जानती हूँ। डरो मत, तुमको मैं कभी भी अस्वीकार नहीं कर सकती हूँ। यदि तुम न होकर कोई और स्त्री होती तो आज—जाने दो उस बात को। ऐसा काम तुम्हारी पिया नहीं कर सकती, जिससे उसकी दीदी को दुःख पहुँचे।'

पिया बाहर चली आई। बाहर के कमरे में चुपचाप बैठ गई।

नौकर आकर बोला—'आलोक बाबू और निशीथ बाबू

आये हुए हैं।

विरक्त स्वर से पिया ने कहा—'अभी फुरसत नहीं है, जाने को कह दो उनसे।'

नौकर चला गया आगन्तुकों को सन्देश सुनाया। वह दोनों दालान से जाने लगे। ऐसे समय पीछे से पपीहरा की आवाज सुनाई पड़ी—'यदि आये हैं तो मिले बिना कैसे चले जा रहे हैं? कदाचित् यह भारतवर्ष की सभ्यता हो।'

उत्तर की कमी निशीथ के कण्ठ में थी नहीं; फिर भी वह चुप रहा। इस तरुणी से उसका परिचय जितना निबिड़ होता जाता था उतना ही निशीथ विस्मित होता था। एक सत्रह, अठारह वर्ष की लड़की को वह अब भी पहचान न पाया।

आलोक से चुप न रहा गया। बोला—'घर से बुलवाकर नौकर से कहला देना कि मुझे फुरसत नहीं है। ऐसी सभ्यता भारतवर्ष की नहीं, यूरोप की हो सकती है।'

पिया एकदम गरम हो गई—'दिन-रात आकर यदि कोई तंग करे तो उसके लिए दवा यही दी जाती है। समझे न आप?'

असहनीय विस्मय से निशीथ का स्वर कण्ठ ही में मर मिटा। उसे लगा—कदाचित् किसी एक दिन, किसी एक दुर्विनीत मनुष्य के अत्याचार से, अपराध से इस नारी की कोमलता कठोरता में परिवर्तित हो गई हो। सरल सहृदय का विनाश हो गया हो, और उसी एक के अपराध का बदला यह पुरुष मात्र से लेना चाहती हो। उस एक के अपराध से यह तरुणी शायद पुरुष-जाति का ही उपहास करना चाहती हो।

कुछ देर चुप रहकर फिर आलोक ने कहा—'घर से

बुलवाकर फिर अपमान से दूर कर देने में कौन-सा आमोद मिलता है पिया देवी, सो तो आप ही जानें। अच्छा नमस्कार।' आलोक चला गया।

निशीथ भी चलने को हुआ, किन्तु पपीहरा के आहत स्वर से उसे लौटना पड़ा। उसने सुना, पिया कह रही है—'हर वक्त क्या किसी का मन अच्छा रहता है ? यदि मुँह से कुछ निकल गया तो उस मुँह की बात पर क्या दण्ड दिया जाता है ?'

फिर भी निशीथ उस लड़की को समझ न पाया, वह विचार न पाया कि अभी-अभी अकारण जो व्यक्ति चिढ़ सकता है, अभी एक पल के भीतर वैसे ही, कारण बिना, वह व्यक्ति जल-सा उत्तापहीन कैसे हो सका ?

निशीथ ने कहा—'जिस लिए भी हो, आज आपका मन अस्वस्थ है। मुश्किल यह है कि कारण पूछना भी एक समस्या है। कदाचित् उसे आप अनधिकार चर्चा कह बैठें। ऐसी स्थिति में शायद चुप रहना एक अच्छी बात है।'

'यदि कभी कुछ कहा हो, तो उस एक दिन की बात ही क्या आदमी का सब कुछ हो सकता है ? यदि आप-सा नाप-तौलकर कोई बात न कह सके, और ऐसा न कर सकना क्या उसका अपराध है ? क्या करें आप, मर्द की जाति ही ऐसी है। हर बात को काँटे में तोलो तब कहीं उसे मुँह से निकालो। यही आपका कहना है न ? यदि मुँह से कुछ निकल गया, बस उसका विचार भी शुरू हो गया। किस दिन मैंने क्या कह दिया और उसी को लेकर आज—आज…'

पिया रोकर उठ गई। और निशीथ ? वह स्तब्ध विस्मय से वैसा ही बैठा रह गया।

: १७ :

ज़रूरी काम से निशीथ बाहर जा रहा था, ऐसे समय छोटा-सा पत्र मिला पपीहरा का। लिखा था—'ज़रूरी काम है, जल्दी आने की कृपा करें।'

ठीक ऐसा ही पत्र पाकर वह कल दौड़ता गया था। निशीथ विचार में पड़ गया! जाय या न जाय? आज भी शायद कल जैसा अपमानित होकर लौटना पड़े। पिया से मिलने का परिणाम निकलता है केवल कलह और मनोवेदना।

एक बार उसने सोचा, क्या ज़रूरत है जाने की? और दूसरे ही क्षण न उसने सोचा, न विचारा, सीधा मोटर पर चढ़कर बैठ गया, मोटर चल दी। पत्र-वाहक चकराया खड़ा रह गया। उसे उत्तर नहीं मिला, न कुछ कहा गया।

द्वार पर हँसती खड़ी थी पपीहरा। बोली—'ऐसी जल्दी आ गये, किन्तु मैं सोच भी न सकी थी कि इतनी जल्दी पहुँच जायँगे। आइए।'

निशीथ अप्रस्तुत हुआ—ऐसी जल्दी उसे आना न था।

'कल आप चिढ़कर चले गये। सोचती थी आज शायद ही आवें।'

'चिढ़कर। और मैं? आप भ्रम में हैं पिया देवी। आप ही

तो गुस्से में होकर उठ गईं। बैठा-बैठा जब थक गया तो घर लौटा।'

'आप क्यों अकेले बैठे रहे ? क्यों—क्यों मुझे बुला न लिया ?'—पिया के अभिमान भरे ये शब्द निशीथ को मीठे लगे—बहुत मीठे। वह चुप रहा। प्रतिवाद ? नहीं, कुछ नहीं, कदाचित् वाद-प्रतिवाद कर उस मीठेपन को वह कदर्य न करना चाहता हो।

अपनी बात से पिया लजा गई और रूठ गई निशीथ पर। एक छोटा-सा उत्तर क्या वह व्यक्ति भद्रता के नाते नहीं दे सकता था ? पपीहरा का चित्त विद्रोह की घोषणा करने लगा। व्यंग ने सहायता की और तब पिया कहने लगी—'कृपाकर कल आप बैठे थे, यह खबर मुझे पीछे मिल गई थी। असीम कृपा, असीम कृपा है आपकी। मैं तो प्रशंसा करूंगी आपकी और आपकी सभ्यता की। जैसा तो आपको सभ्यता का ज्ञान है, वैसी स्मरण-शक्ति भी तीखी है। कौन स्त्री कब क्या बोली, कब रोई ऐसी बातों को आप कभी नहीं भूलते।'

विमूढ़ निशीथ केवल उसे देखता रह गया। विचार हो आया, यह पुरुष नहीं नारी है, सुन्दरी है, गुणवती है, साहसी है, सती है। है सब कुछ, परन्तु यह नारी उससे चाहती क्या है ? क्या चाहती है यह, क्या-क्या ? विचारने लगा निशीथ—केवल विद्रोह ? मात्र व्यंग ! युद्ध-घोषणा ? बस चाहती यह केवल इतना ही है ? किन्तु क्यों ? इसको क्या ज़रूरत पड़ गई इसे ?

देर के बाद जब निशीथ कुछ सहम-सा गया तो बोला—'आपने मुझे किसी जरूरी काम के लिए बुलाया था।'

'हाँ-हाँ बुलाया था—बुलाया था। कह जो रही हूँ—मैंने ही बुलाया था। बिना बुलाये आप आये नहीं, सो मैं भी जानती हूँ, आप भी। कहकर क्यों अपने को हलका कर रहे हैं?' दूसरे क्षण पिया को स्मरण हो आया बुलाने का कारण। और बस झगड़ा-विवाद का अन्त हो गया। बालिका-सी मचलती अत्यन्त सरलता से उसने निशीथ का हाथ पकड़ा और एक प्रकार खींचती उसे भीतर ले चली—'चलो घोषाल, अच्छी खबर सुनाऊँ, इसी से तो कल से आप लोगों को बुला रही हूँ, किन्तु आप लोग सुनते ही नहीं।'

निशीथ की समझ में न आया कि अब वह क्या करे, क्या कहे। पिया उसका हाथ पकड़े हुए थी, उसे संकोच-सा लगने लगा। किन्तु फिर भी उसने कहा कुछ नहीं, चुपचाप चलने लगा।

अपने आनन्द में विभोर पिया बकती चली—'काका ने शादी की है। काकी बड़ी अच्छी लड़की है। वह मुझे जरूर चाहेगी। बेचारी गरीब की लड़की है, बाप नहीं है। शादी नहीं हो रही थी। काका ने सब बातें सुनीं, दया आ गई, शादी कर ली। इसके सिवा उस दरिद्र लड़की के लिए करते क्या? कैसे अच्छे हैं काका, बड़ा उदार मन है और वैसा कोमल भी। किसी के दुःख-कष्ट को वह सह नहीं सकते। बड़े अच्छे हैं मेरे काका। वह देवता हैं, ऐसा भी भला कोई कर सकता है, है न निशीथ बाबू? अरे आप बोलते क्यों नहीं?'

उस अन्तिम प्रश्न से निशीथ की तन्द्रा टूट गई। किन्तु क्या उत्तर देना है, सहसा, वह कुछ ठीक न कर पाया।

पिया हटकर खड़ी हो गई—'आप नाराज हैं ?'

'नहीं-नहीं। ऐसा मत सोचिए।'

'तो आप चुप क्यों हैं ?'

'विचार रहा था।'

'विचारते थे ? वह कौन-सी बात ? कहेंगे नहीं मुझसे ?'

इस सरल बालिका-सुलभ प्रश्न से निशीथ संकट में पड़ गया, कहा—'वैसा कुछ नहीं है। सोच रहा था सुकान्त बाबू के बारे में।'

'काका के बारे में ? क्या सोच रहे थे ?'

'ऐसी अवस्था में शादी न करते तो अच्छा था।'

'दीदी भी ऐसा कह रही थीं। न जाने आप लोग क्यों ऐसा कहते हैं। अच्छे और बुरे को लेकर आदमी रहता है। यदि इस विवाह में बुराई है तो अच्छा भी कुछ है ही ; किन्तु आप लोग उस अच्छे को मानना नहीं चाहते। दीदी और आप एक मत के हैं। दीदी कल चली गईं'—यमुना के स्मरण से पिया के नेत्र सजल हुए।

इस बार निशीथ का विस्मय सीमा-रेखा को भी लाँघ गया। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि हँसने के साथ-ही-साथ रोया भी कैसे जा सकता है !

निशीथ स्थिर निश्चय पर चला गया—हाँ, नारी तो यह है ही, किन्तु उस नारीपन के साथ यह स्त्री और भी कुछ है, पहेली ? रहस्य ? चाहे जो भी हो, परन्तु है अवश्य। और यदि पहेली है तो वह है जटिल पहेली, उसे सुलझाने की चेष्टा करना विडम्बना मात्र है। इस निश्चय से निशीथ कुछ सन्तुष्ट-

सा हो गया ।

निशोथ ने पूछा—'मेरी बातों से क्या आप दुःखी हो गईं पिया देवी ?'

'नहीं-नहीं । मुझे आप आज ले चलें ।'

'कहाँ ?'

'वाह भूल गये ? और गाँव किसके साथ जाऊँगी ?'

'अच्छी बात है, ले चलूँगा ।'

'तो कब ?'

'जब आप कहें ।'

'जल्दी चलूँगी । यहाँ अच्छा नहीं लगता ।'

'चाहे जब कहें । मैं तो तैयार हूँ । आलोक बाबू और रमेश बाबू नहीं आये क्या ?'

दुःखी स्वर से पिया बोली—'नहीं आये तो ।'

गत कल की बात को निशीथ जानता था, फिर भी पूछा—'क्यों ?'

'वे ही जानें । शायद अब न आवें ।'

'चिन्ता क्या है ? बुलवा भेजिए । अभी दौड़ते आयेंगे । यदि कहें तो मैं ही जाकर बुला लाऊँ, और क्षमा आप मांग लेना ।'

'हर बात में स्त्रियों को अप्रस्तुत करना, अपमान करना, क्या कोई बहादुरी की बात है घोषाल ?'

किन्तु असन्तुष्ट होने जाकर भी निशीथ हो न सका, और मुँह पर इस स्पष्ट कहनेवाली को अश्रद्धा भी न कर सका । बोला—'यदि बुला भेजें तो हानि क्या है ? कल जैसा बर्ताव

आलोक से किया गया था—'निशीथ चुप हो रहा।

'ख़राब था, अभद्र था, यही कहना चाहते हैं न? अच्छी बात है, किन्तु उसके लिए आपको चिन्ता की ज़रूरत नहीं, मैं समझ लूँगी।'

घर लौटकर निशीथ ने स्थिर किया कि अब कभी पपीहरा के घर न जायेगा, न किसी प्रकार मेल ही रखेगा।

करने को तो इतना निशीथ स्थिर कर गया, किन्तु जब मोटर का हार्न बाहर बजने लगा, तो वह बाहर आया। कार पर बैठी पपीहरा उसके चपरासी पर बिगड़ रही थी कि मालिक को बुलाने में वह देर क्यों लगा रहा है!

पपीहरा को देखकर निशीथ जिस परिमाण में विस्मित हुआ उसी परिमाण में शंकित भी हुआ। कौन जाने शायद अभी-अभी यह लड़की बिना कारण बिगड़कर कोई अनर्थ कर बैठेगी।

उसे देखकर पिया बोली—'कैसा खराब चपरासी है आपका, बात नहीं सुनता।'

स्मित हास्य से निशीथ ने कहा—'यह बहरा है।'

'तो क्यों रख दिया?'

'बड़ा ग़रीब है, कहीं नौकरी नहीं लग रही थी, मैंने रख लिया।'

'ग़रीब है? तो अच्छा किया आपने, बेचारा ग़रीब!'

'आइए पिया देवी! सौभाग्य है जो आज आप घर पर आईं।'

'तो क्या बैठने आई हूँ?'

निशीथ सर खुजलाने लगा। उसकी समझ में न आया कि क्या कहा जाय।

'कैसे भूलते हैं आप। कपड़े भी तो नहीं पहने। जल्दी तैयार हो, वरना ट्रेन न मिलेगी।' पपीहरा अधीर हो रही थी।

निशीथ ने किया यह कि थोड़े से कपड़े किसी प्रकार सूट-केस में भर लिये और कार पर बैठ गया।

: १८ :

गाड़ी से किसी तरह उतरने की देर थी कि वन्य हरिणी की भाँति पपीहरा उछलती, कूदती भागी। पीछे-पीछे निशीथ आ रहा था, उसकी बात पिया भूल गई।

बच्चों की-सी पिया सुकान्त के कण्ठ से जा लिपटी। उस के बाद प्रश्नों की झड़ी-सी लगा दी—'शादी के वक्त मुझे बुला क्यों न लिया? चुपके-चुपके शादी क्यों कर ली? तुम ऐसे दुबले क्यों हो गये हो? काकी कहाँ हैं? उनका नाम क्या है? अच्छा काका, मेरे लिए तुम्हारा जी घबराता था?

उसे आदर कर सुकान्त ने कहा—'घबराता था बिटिया।'

'झूठ बोलते हो काकाजी, यदि घबराता तो बुला न लेते?'

'झूठ बोलती है मेरी पिया बिटिया, मैंने बुलाया, वह आई नहीं।'

'बुलाया था? ठीक है, ठीक है। उस समय दीदी बीमार

थीं। तो तुम क्यों न मेरे पास चले आये ?'

'बहुत काम पड़ा है पिया, वर्षों के बाद तो गाँव पर आया हूँ।'

निकट खड़ा निशीथ पिता-पुत्री का मिलन बड़े प्रेम से देख रहा था।

सुकान्त की दृष्टि निशीथ पर पड़ी, कहा—'अरे, तुम भी आये हो ? सौभाग्य, सौभाग्य, बड़ी प्रसन्नता हुई तुम्हारे आने से। तुम्हारे आने की आशा थी नहीं।'

'पिया देवी पकड़ लाईं।'

'अच्छा किया पिया ने। वरना तुम कब आते।'

नौकरों को बुलाकर सुकान्त ने निशीथ के स्थान, भोजन की व्यवस्था करने को कह दिया।

पपीहरा ने कहा—'काकी को बुलाओ काका।'

स्नानादि के लिए निशीथ नौकर के साथ चला गया।

'पहले नहाकर चाय तो पी ले।' सुकान्त मुसकरा रहे थे।

'नहीं। पहले उन्हें बुलाओ।'

कविता आई। उसे देखकर पपीहरा खिलखिला पड़ी।

'यह तो ज़रा-सी है।'

लज्जित मुख से कविता भाग गई।

'इस ज़रा-सी को मैं काकी न कह सकूँगी।'

'तो क्या कहोगी पिया ?'—सस्नेह सुकान्त ने कहा।

'मैं ? तुम कह दो।'

'जो तेरे जी में आवे सो कह।'

'नाम लेकर पुकारूँगी। नहीं वह खराब लगेगा। तो

कविता काकी—नहीं, नहीं, वह भी अच्छा नहीं। फिर मैं उसे कैसे पुकारूँ ? मैं, मैं उसे कहूँगी काकू। काकू—काकू। बस यही ठीक है। कैसा मीठा तुकार है, है न काका ! काकू—काकू। अच्छा अब जाती हूँ।'

'नहीं। पहले नहाकर चाय पी ले। तेरी काकू कहीं भागेगी नहीं।'

'छोड़ो काका, देर हो रही है।'—वह भागी-भागी भीतर गई, पहले कमरे में कविता मिल गई।

पपीहरा कुहुक-सी उठी—'मुझसे दोस्ती कर ले काकू !'

कविता पलकहीन नेत्र से पिया को देखने लगी। यद्यपि पपीहरा रूपसी न थी, किन्तु फिर भी कविता को लगा—इस पिया लड़की का मुँह ऐसी कोई आकर्षिणी शक्ति से ओतप्रोत है जो कि दूसरे के अनजान में उसे अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। उसे जान पड़ा यदि वह सुन्दरी नहीं है, तो भी उसके मुँह में देखने को है, बहुत कुछ। यह मुख उस प्रकार का है, जिसे देखने से प्यार करने को जी चाहता है, अपनाने की इच्छा होती है।

'ऐसे विस्मय से क्या देख रही हो काकू ?'

'आपको।'

पपीहरा हँसी तो हँसती ही रह गई।

उस न रुकनेवाली हँसी के सामने कविता विमूढ़-सी रह गई। देर के बाद हँसी रुकी, तब पपीहरा ने कहा—'आप, क्या मैं आप हूँ ? तुम कहना। समझी न ? तुम कहना, तुम—तुम।'

कविता ने सम्मति-सूचक मस्तक हिला दिया।

'तुम बड़ी गम्भीर हो काकू भाई!'

'शर्म लग रही है।'

'और मुझसे? ऐसा नहीं काकू!'—बड़े प्रेम से उसने कविता के गले में बाँह डाल दी।

कुछ ही देर में अल्प-भाषिणी कविता से चंचल स्वभाव की पपीहरा की गहरी मित्रता हो गई। दोनों बैठो तन्मय होकर बातें करने लगीं।

बाहर से हरमोहिनी का रूखा स्वर सुन पड़ा—'सुनती है कवि, वही भतीजी छोकड़ी आई है।' बड़बड़ाती हुई हरमोहिनी कमरे में चली आईं, पपीहरा को देखकर तीखे स्वर से बोलीं—'यह छोकड़ी कौन है?'

दूसरे पल असन्तोष भरा स्वर पिया का सुन पड़ा—'यह कौन है काकू?'

'माँ।' संकोच से कविता का स्वर रुक-सा गया।

'तुम्हारी माँ!'—पिया के कंठ का विस्मय उन स्त्रियों से छिपा न रह सका।

ज़रा ठहरकर पपीहरा ने कहा—'तूने बातों में मुझे ऐसा लगा लिया कि स्नान करना, घर-मकान देखना सब भूल गई। अच्छा मैं जाती हूँ।'

'काकी से कोई तू कहकर भी बात करता है? छिः-छिः, शहर में रहती हो, लिखी-पढ़ी हो, तो सभ्यता नहीं जानती?'—बोलीं हरमोहिनी।

पिया के मुख पर ऐसा कठोर शब्द कहने का साहस आज

तक किसी को न हो सका था। किन्तु उत्तप्त होने जाकर भी पपीहरा ने आज सर्वप्रथम अपने को रोकना सीखा। मन में बार-बार कहने लगी—'काकू की माँ है, काकू की माँ, मेरी काकू की माँ है।'

'यह पपीहरा है माँ !' कविता ने जल्दी से कहा।

'है तो रही आवे—बड़े आदमी की भतीजी। मैं तो उचित कहने से कभी न चूकूँगी। बड़े का अपमान मैं नहीं सह सकती। मुझे भी तो प्रणाम करती। छि:, कैसी कुशिक्षा है।'

'चलो पिया तुम्हें नहाने का कमरा दिखला दें।' दोनों चल पड़ीं। बाथरूम दिखलाकर कविता चली आई। देर के बाद वह लौटी तो पाया, पपीहरा द्वार पकड़े वैसे ही आनत मुख से खड़ी है।

'अब भी खड़ी हो, नहाने नहीं गई ?'—आश्चर्य से कविता ने पूछा।

'क्या वह सचमुच तेरी माँ है काकू ?'

'माँ ही तो हैं। क्यों बात क्या है ? अच्छा अब समझी, उनकी बातों का कुछ खयाल न किया करो पिया, पुरानी चाल की हैं न।'

'किन्तु'—पिया चुप हो गई।

'कहो, कहो।'

'यदि कभी उन्हें तुम-सा प्रेम न कर सकी, यदि—यदि उन्हें मैं चाह न सकी, तो तू नाराज़ तो न हो जायेगी काकू ?'

इस पिया लड़की के कहने की रीति, भाव ऐसा मधुर लगा कविता को कि उस पर क्रोध तो कर ही न सकी; उप-

रान्त उस सरल व्यवहार से वह और आकृष्ट हो गई ।

'ऐसी बातें क्यों विचारती हो पिया ? जो कुछ दे सको वह देना । किसी के सन्तोष, असन्तोष के लिए कोई अपनी आत्मा को कहीं बलिदान कर सकता है ?'

'बात बिल्कुल ठीक कह रही हो । तुम मेरी काकू हो न ?'

कविता मुस्कराने लगी ।

'हँसती हो, जवाब दो न ?'

'हूँ तो काकू और तुम हो मेरी पपीहरा ।'

'ऊँ-हूँ, नहीं बना—पिया कहो, पपीहरा तो प्यास से चिल्लाती है, मैं कहीं प्यासी हूँ ?'

'नहीं-नहीं, गलती हो गई—तो पिया ।'

'हाँ । सुनो तो काकू !'

'नहीं, अब सुना-सुनी नहीं । कोई बात नहीं । जाओ स्नान कर लो ।'

'एक बात ।'

'नहीं, कुछ नहीं, चाय ठंडी हो रही है ।'

'मैं चाय नहीं पीती ।'

'झूठी । जाओ, नहा लो ।'

इसके बाद उस दुर्दान्त, अबाध्य पिया ने कुछ न कहा । बाध्य शिशु की भाँति स्नान करने चली गई ।

: १६ :

दो दिन और दो लम्बी रातें निकल गईं। परन्तु पपीहरा काकी को लेकर ऐसी व्यस्त रही कि किसी की सुधि न ले सकी, न निशीथ की और न काका की।

कविता के बालों को न जाने कितनी बार कंघी किया, पाउडर लगाकर, सिन्दूर की बड़ी-सी बिन्दी उसके ललाट में लगाकर पिया ने फिर पोंछा और फिर लगाकर उस मुख को मुग्ध-स्नेह से देखने लगी। कविता लज्जा से सिमट-सी गई।

'मुझे स्वाँग क्यों बना रही हो पिया ?'

'स्वाँग ? नहीं मेरी काकू। गाँव की सभ्यता दूसरी है। किन्तु शहर में इसी तरह तुझे बन-ठनकर रहना पड़ेगा।'

'बाप रे, दिन-रात इसी तरह सज-धजकर ?'

'हाँ। मैं तो तुझे पाठ दे रही हूँ।'

'अच्छा, तो यह पहला पाठ है ?'

'पहला—और दूसरा। लो, साड़ी फिर उसी तरह पहन रखो है ?'

'भूल गई थी पिया। अभी पहनती हूँ। ठीक है ?'

'ठीक है। बस ऐसे ही पहना करो।'

'बड़ी अटपटी-सी लगती है।'

'कुछ नहीं, दो-चार दिन में सब ठीक हो जायेगा। मैं अब जा रही हूँ। तेरे लिए घर-मकान कुछ न देख पाई। तू ऐसी पड़ी रहती है।'—पिया द्वार तक जाकर लौटी। काकी को देखा, मुस्कराई, इसके बाद चली गई।

कमरों से दालानों में होती हुई पपीहरा एक बन्द कमरे

के सामने खड़ी हो गई। थपकियाँ देने लगी दरवाज़े पर। जब कोई न बोला, तो धीरे से धक्का दिया, द्वार खुल गया। सन्ध्या के धूमिल प्रकाश में पृथ्वी ढँक चुकी थी। कमरे में था प्रदीप का मन्द प्रकाश और दीप-धूप-धूना की मीठी सुगन्ध, छोटा-सा शिवलिंग, एवं लिंग के सामने मृगछाला पर आसीन ध्यान-मग्न स्तब्ध निशीथ—समाधिस्थ-सा।

दीप-धूप की गन्ध पपीहरा को बहुत अच्छी लगने लगी। सेण्ट, पाउडर की उत्तेजक गन्ध से वह परिचित थी, किन्तु अगर-चन्दन की सुवास से नहीं, इस गन्ध के परिचय के प्रथम मुहूर्त में वह हो रही—विमूढ़-सी। उसे लगा—उस घर की वायु में अनेक भक्ति, अनेक निष्ठा, अनेक विश्वास, अनेक पवित्रता और मीठी खुशी मँडरा-सी रही है। और उसे आलिंगन करने के लिए चहुँओर से बाँह फैलाकर दौड़ी आ रही है। पिया ने आँखें खोलकर अच्छी तरह से देखा—शुभ्र यज्ञोपवीत निशीथ की खुली देह पर पड़ा हुआ था, सादा रेशमी वस्त्र पहने, निमीलित नेत्र से वह ध्यान में मग्न था।

पपीहरा के नेत्र परिहास, व्यंग से मचल-से पड़े। ज़ोर से हँसने को उसका जी चाहने लगा और उस आसीन पुरुष को परिहास से विद्ध करने के लिए हृदय व्याकुल होने लगा।

परन्तु अधिक आश्चर्य तो इस बात पर है कि वह यह सब कुछ न कर पाई। केवल इतना ही नहीं, वरन् धीरे-धीरे उन आयत नेत्रों की दृष्टि से परिहास की छाया हट गई और उसके स्थान पर अधिकार कर लिया—सम्मान और विस्मय ने। आच्छन्न-सी खड़ी पिया उस प्रियदर्शन, ध्यानस्थ पुजारी को

देखती रह गई।

उसके गले का फूल का गजरा, माथे के चन्दन-तिलक ने पपीहरा की दृष्टि में सौन्दर्य की नदी-सी बहा दी। विस्मय, पुलक से एक बार वह रोमांचित हो गई और फिर उसकी दृष्टि उस शुभ्र उपवीत में समा-सी गई, बोध, चेतना जाती रही, ऐसा लगने लगा कि उस उपवीत से किसी एक दिन के महा-यज्ञ का धूम, कुंडलाकार-सा निकलता चला आ रहा है और अग्नि-स्फुल्लिगों में परिवर्तित होकर साधक के चहुँओर विकीर्ण हो रहा है।

विस्मय—विस्मय ! जीवन की प्रभात-वेला में पपीहरा ने पाया विस्मय—विस्मय ! ऐसा विस्मय, रन्ध्रहीन, छिद्रहीन, वह ऐसा विस्मय कि जिस विस्मय की बाँह पकड़े वह खड़ी रह गई—विमूढ़-सी।

पुजारी ने आँखें खोलीं, तो पाया—एक आत्म-विस्मृत तरुणी को और ठीक अपने सामने, देव के वरदान जैसी, होम की शिखा जैसी, समुद्र-मन्थन की सुधा जैसी। थी वह निःस्पंद खड़ी, बिल्कुल सामने।

अपने साधक की झोली में देवता ने अपना श्रेष्ठ वरदान डाल दिया था, फिर वह वहाँ से हटती कैसे !

साधक की आँखें सुधा के कलश में गड़-सी गईं और सुधा ओत-प्रोत हो ही उस साधक में। समय बीतने लगा। विस्मय पुलक से एक दूसरे को देखते रह गये।

घृत-दीप उस कौतुक को देखकर खिलखिला पड़ा और फिर आँखें बन्द कर लीं।

गृह में अन्धकार हो गया—सूचिभेद्य अन्धकार। उस अन्ध-कार की गोद में निशीथ की चेतना लौटी। उसने शिथिल अंगों में स्फूर्ति लाने की चेष्टा की और हँसा—'कैसा यह पागलपन है पिया देवी। कबसे यहाँ खड़ी हो! अच्छा मैं समझ गया। यहाँ खड़ी-खड़ी व्यंग-परिहास की चीजों को इकट्ठी कर रही थीं। जरूर कर रही थीं। है न बात ठीक!'

हँस-हँसकर कहने को तो इतना निशीथ कह गया, किन्तु दूसरे पल उसे विस्मय से स्तब्ध रह जाना पड़ा। पिया के द्रुत पलायन में और चाहे कुछ भी रहा हो, किन्तु निशीथ के विस्मय अपनोदन की वस्तु उसमें थी नहीं।

एकान्त में हरमोहिनी कविता से बोलीं—'सच कहने से बुरा लगता है। किन्तु कहे बिना रहा भी तो नहीं जाता। तुम तो उस घुड़सवार लड़की के लिए बावली हो रहीं हो। इधर घर-गृहस्थी बही जा रही है, अपना आदमी पराया होने जा रहा है। न कुछ देखना, न सुनना। बस, पिया और पिया। पीछे पछताना पड़ेगा सो मैं कहे देती हूँ।'

'घर की लड़की है माँ!'

'तेरा सिर।'

'बड़ी अच्छी है।'

'अच्छी है? मैं जानती हूँ कि कैसी अच्छी है। उसे ऐसा सिर मत चढ़ा कवि! वह जैसी तो घमण्डिन है वैसी ही बद-चलन भी। उसे देखकर मुझे तो आग-सी लगती है।'

'छिः, माँ!'—बस बोली कविता इतना। और वाद-प्रति-वाद की प्रतीक्षा न कर वहाँ से चल दी।

अपना सिर पीटकर माता रह गईं।

द्विप्रहर में सुकान्त आराम कर रहे थे। जंगली हवा के झोंके-जैसी घर में आकर घुसी पपीहरा। उन्मादी नेत्रों से देखती हुई पूछने लगी—'क्या मैं विधवा हूँ काका ! कहो, जल्दी कहो।'

हतवाक् सुकान्त उसका मुँह निहारने लगे। उत्तर ! किन्तु उत्तर देते क्या ! और कदाचित् प्रश्न उनकी समझ में न भी आया हो।

'कहो, मैं सुनना चाहती हूँ। झूठ नहीं, सच कहो काका। यदि तुम झूठ बोले तो मैं पानी में डूब मरूँगी। उस तालाब में।'

इस बार सुकान्त जैसे नींद से जागे, साहस कर बोले—'नहीं।'

'नहीं ? सच कहते हो ?'

'सच कहता हूँ। तुझे आज हो क्या गया है ? मेरे पास बैठ जाओ, बात क्या है !'

'कुछ नहीं। तुम कहो—मैं विधवा हूँ या नहीं ?'

'कह तो रहा हूँ—नहीं-नहीं। भैया ने तेरी शादी तय कर ली थी, जब तू सात वर्ष की थी। यहाँ तक कि बारात भी दरवाज़े पर आ चुकी थी।'

'सात वर्ष में विवाह !'—पिया खिलखिलाकर हँसी।

'ठीक सात वर्ष की तब तू थी। मैं अपने काम पर था, तब दूसरे शहर में मैं था।'

'फिर क्या हुआ ?'—उसने अधीर-आग्रह से पूछा।

'मुझे पता चल गया था। और ठीक उसी समय घर पहुँचा

जब कि निमन्त्रित जन से घर भरा हुआ था और बारात दर-वाज़े पर लगी थी।'

'तो शादी हो गई ?'—पूछा पिया ने।

'मेरे जीते जी सात वर्ष की पिया का ब्याह हो ही कैसे सकता था ? तुझे लेकर मैं ऐसा भागा कि किसी को कानोकान पता तक न चल पाया। भैया बहुत गुस्सा हुए। भाभी ने अपना सिर पीट लिया। यह हुआ सब कुछ। परन्तु मैं तुझे अपनी गोद में छिपाकर बैठा ही रह गया।'

पपीहरा तालियाँ बजा-बजाकर हँसने लगी—'बड़े मज़े की बात है।'

सुकान्त हँसने लगे।

'तुमने अभी तक मुझसे कहा क्यों न था !'

'बात ऐसी कौन-सी थी जो तुझसे कहता। परन्तु तुझसे यह सब कहा किसने ?'

'बुढ़िया ने। वह खराब है काका।'

'कौन बिटिया !'

'काकू की माँ। उन्हें मैं अम्माजी न कह सकूँगी काका, वह कहती है पिया बदचलन है। घोड़े पर चढ़ती है, साबुन-पाउडर लगाती है। मेरी ओर गुर्राकर देखती है बुढ़िया। और भी जाने क्या-क्या कहती है।'

ज़मींदार के नेत्र अंगार-से जलने लगे। भृत्य को आज्ञा दी—'बहू रानी को बुला ला।'

सिर ढाँके कविता आकर खड़ी हो गई।

'अपनी माँ से कह दो, पिया इस घर की सब कुछ है।

मालिक न मैं हूँ, न तुम। उनसे कह दो, यदि सोच-समझकर न चल सकें तो इस घर में उनकी जगह न होगी। इस बात को कभी न भूलना कि मैंने अपने लिए नहीं, वरन् पिया के लिए तुमसे शादी की है। वह अकेली रहती थी, उसे साथिन की ज़रूरत थी। मैं तो सोच भी नहीं पाता कि पिया जैसी लड़की पर कोई ईर्ष्या कर सकता है। समझीं? वह तुम लोगों की ईर्ष्या की पात्री नहीं है। वह इस घर की मालकिन है।'

कविता का मुख अपमान से काला पड़ गया, कहा उसने कुछ नहीं, जैसी आई थी वैसी ही लौट गई। आर्त स्वर से पिया ने चिल्लाया—'काका, तुमने यह क्या किया? काकू बेचारी का क्या अपराध है? वह मुझे बहुत चाहती है, तुमसे भी ज़्यादा। न जाने अब वह मुझे क्षमा करे या नहीं! यदि बुढ़िया कुछ कहे तो वह क्या कर सकती है!'

'माँ-बेटी दोनों एक हैं।'

'नहीं-नहीं, ऐसा नहीं, तुम भ्रम में हो।'

'तू नहीं जानती बिटिया, यह भी तुमसे ईर्ष्या करती है। दोनों को निकालना है।'

पपीहरा ने अपने हाथों से सुकान्त का मुँह ढाँक लिया—'चुप रहो काका, क्या कहते हो। उनके साथ मैं चली जाऊँगी। काकू के बिना मैं नहीं रह सकती!'

बाहर बैठा निशीथ अखबार पढ़ता जाता था और बातें सुनता जाता था।

'मैं भीतर आ सकता हूँ पिया देवी!'—निशीथ ने पूछा।

'आइए न।'

निशीथ भीतर आया। उस दिन की बात पिया को स्मरण हो आई और उसका मन लज्जा से ज़रा नत-सा हो गया। पहले-पहल पुरुष के सामने कुछ लज्जा-सी लगी।

'यहाँ आने से आप ऐसी दुर्लभ हो जायेंगी, यदि पहले इस बात को जान पाता तो शायद ही यहाँ आता पिया देवी।'

जमींदार ने कहा—'ठीक कह रहे हो निशीथ। यहाँ पहुँचकर पिया अपनी काकू को लेकर ऐसी उन्मत्त हो रही है कि मेरी सुध नहीं लेती, साथ ही अतिथि को भी भूली है।'

'आपको कोई असुविधा तो नहीं हो रही है निशीथ बाबू?' लजीली हँसी से उसके नेत्र झुक रहे थे।

'हो ही रही हो, फिर पूछनेवाला कौन है?'—उत्तर में निशीथ ने कहा।

'पूछ जो रही हूँ।'

'तो मैं भी कहने को तैयार हूँ। पहली असुविधा, बोलने के लिए कोई मिलता नहीं। दूसरी—घूमने का साथी कोई नहीं है।'

'बस-बस, कह चुके। निशीथ, मेरा भी यही अनुयोग है पिया से।'

'कैसे नटखट हो काका तुम। काम से फुरसत नहीं मिलती सो न कहेंगे, उल्टे दूसरे के मत्थे कसूर मढ़ना—और मढ़ना। और आपको निशीथ बाबू? पूजा से तो फुरसत नहीं, फिर बातें कब करते?'—पूजा शब्द पिया के गले में मुरझा-सा गया।

एक की आँखें अपने आप दूसरे की ओर उठ गईं और

उस मिलित दृष्टि के सामने दुनिया का रंग बदलकर अबीर के स्तूप में परिवर्तित हो गया।

पपीहरा भागना चाहने लगी। चाहे वह उसकी पराजय हो या विजय। परन्तु वह भागना चाह रही थी; पिया—पपीहरा भागना चाह रही थी। भागना, भागना।

'कल मैं जा रहा हूँ ?'—निशीथ ने कहा।

'कहाँ ?'—पूछा सुकान्त ने।

'घर।'

'कल सप्तमी है। यदि आये हो तो गाँव की दुर्गा-पूजा देख लो, विशेषतः तुम भक्त आदमी ठहरे।'

'मैं जाना नहीं चाहता था, किन्तु इस तरह गूँगे-सा होकर यदि और एक दिन भी रहना पड़े सुकान्त बाबू ! मैं सच कह रहा हूँ, तो पागल हो जाऊँगा।'

पपीहरा की ओर देखकर सुकान्त मुस्कराने लगे। पपीहरा जोर से हँसी।

अन्त में तय हुआ कि प्रातः-संध्या पपीहरा उन दोनों के साथ रहेगी। पिया उठकर निशीथ के साथ घूमने के लिए चली गई।

: २० :

शरद-सप्तमी के प्रातःकाल शहनाई के मधुर स्वर से पपीहरा की नींद खुली। उस स्वर से उसका मन आनन्द-

आतुर होने लगा। अपने भीतर वह उस आनन्द को छिपाकर न रख सकी, साथी की ज़रूरत पड़ गई। पपीहरा चल पड़ी कविता की खोज में। खोजती-ढूँढ़ती इस बार जिससे उसकी भेंट हो गई, पिया को लगा, उस जैसा रूप उसने इस सत्रह-अठारह वर्ष की अवस्था में कभी देखा नहीं। कदाचित् स्वर्ग की अप्सरा हो, उसने सोचा और पूछने लगी—'तुम कौन हो? यहाँ कैसे आ गईं? कहाँ से आईं, कब आईं? ऐसा रूप तुम्हें किसने दे दिया?'

रूप, वही रूप की प्रशंसा, नीलिमा कमल-सी खिल गई—'मैं कविता की दीदी नीलिमा हूँ।'

'नहीं-नहीं, तुम स्वर्ग की विद्याधरी हो। कहाँ से चुरा लाईं इतना रूप?'

नीलिमा हँसी। 'कविता की बहन नीलिमा हूँ।'—उसने फिर कहा।

'काकू की बहन और इतनी सुन्दर? अब तक तुम मेरे सामने क्यों न आई थीं?'

'किसी ने मुझे बुलाया नहीं।'

'ठीक है, मैं नहीं जानती थी तुमको। काकू की बड़ी बहन हो?'

'हाँ, वह मुझसे छोटी है।'

'तो तुम मेरी कौन लगीं—काकी?'

'नहीं।'

'नहीं कैसे?'—पपीहरा ने उसका हाथ पकड़ लिया और विज्ञ भाव से कहने लगी—'तुम कुछ नहीं जानतीं, काकू की

बहन को काकी कहना पड़ता है। हाँ तो काकी, तुम बिना किनारी की साड़ी क्यों पहनती हो ? हाथ में चूड़ी क्यों नहीं हैं ? चलो मेरे साथ। मेरे बहुत गहने हैं, पहना दूँगी।'—पपीहरा उसे खींचती ले चलीं।

बात हरमोहिनी के कानों तक चली गई।

वह बाज-जैसी झपटी आईं—'गरीब के घर की विधवा है यह। ऐसा अनाचार हम दरिद्रों को नहीं सोहता। उसे यों ही रहने दो।'

हाथ छोड़कर पिया एक ओर खड़ी हो गई। इस स्त्री से उत्तर-प्रत्युत्तर करते उसका मन खिन्न होने लगा था। पौरुष-पूर्ण कंठ से हरमोहिनी ने पुकारा—'चली आओ नीलिमा।'

नीलिमा ने कृतज्ञ नेत्र से पिया को देखा—फिर चल पड़ी।

'लौट-लौटकर देखती क्या है रे नीली ? तू गृहस्थ की लड़की है, गृहस्थ-सी रह, शहर की हवा हमें नहीं सहने की। और मैं कहती हूँ—हम गरीबों को लेकर व्यंग, परिहास करने का किसी को क्या प्रयोजन ?'—हरमोहिनी चलते-चलते बोलीं।

क्रोध से पपीहरा विकल हो गई। नौकर को पुकारकर कहा—'काका को बुला लाओ, अभी जाओ।'

उसी पल में कविता ने आकर उसका हाथ पकड़ लिया—'छिः पिया, हर बातों में चिढ़ना कहीं अच्छा होता है ?'

पपीहरा चुप रही। उसे काका की रूढ़ बातों का स्मरण हो आया। कुंठित लज्जा से बोली—'मुझे क्षमा करो काकू !'

'ऐसा क्यों पपीहरा !'

'हाँ-हाँ। कर दो न क्षमा।'

'अरे तो बिना कारण हो ?'

'तुम मुझपर नाराज़ हो काकू ?'

'तुम पर !'

कविता के इस कहने के ढंग से पिया को लगा कि ऐसी असम्भव बात दुनिया में हो ही नहीं सकती, हो ही नहीं सकती। कविता मानो कहना चाह रही है—तुम पर नाराज़ और मैं ! क्या ऐसा भी कभी हो सकता है ?

रात्रि के प्रथम प्रहर में देवी की पूजा आरम्भ हो गई। उच्च स्वर से पुजारी वेद-मंत्र पढ़ने लगे।

काँसे के घण्टे के गम्भीर निनाद से ग्राम मुखरित होने लगा। अगर, चन्दन, फूल, बेलपत्र से देवी ढँक-सी गई। सहस्र दीपों के उज्ज्वल-तर प्रकाश में, सृष्टि, स्थिति, संहार को द्वादश भुजाओं में समेटे हुए देवी मानो सवाक् हो उठीं और उनका वाहन केशरी प्राणमय हो गया, पद-प्रान्त में पड़े शिव मुस्करा-से पड़े।

भक्ति-स्थिर नेत्र से निशीथ उन्हें देखने लगा। सामने, चेयर पर काका के साथ बैठी पपीहरा को यह दृश्य बड़ा अच्छा लगा। उन द्वादश भुजाओं के सामने उसकी परिहास-स्पृहा मर मिटी। उन नेत्रों में यदि भक्ति नहीं थी, तो व्यंग-परिहास भी नहीं था। व्यंग-परिहास नहीं, किन्तु उन आँखों में कुछ था। क्या ? कौन जाने, कदाचित् नूतनत्व की स्पृहा हो या सम्भ्रम हो। देवी-पूजा वह प्रथम बार देख रही थी न।

पपीहरा की दृष्टि में पृथ्वी आनन्दमयी-सी लगने लगी। उसे लगा—देवी के नेत्र से जैसे कल्याण, स्नेह टपका पड़ रहा

है । खुशी-खुशी, चहुँओर खुशी । उसे बड़ा अच्छा लगने लगा । किन्तु उसकी खुशी स्थायी न हो पाई । जब बलिदान के लिए पशु पर खड्ग उठा तो वह तिलमिला गई । घृणा से उसने आँखें फेर लीं । छि: छि:, यह क्या है ? उसके जी में आया—इस मंगल-वेला में ईर्ष्या कैसी ? वरदान की शुभ्र वेला में यह हत्या कैसी ? कल्याण की वेला, यह अकल्याण कैसा ? अरे कैसी, कैसी, यह ईर्ष्या, यह नृशंसता कैसी ?—जिज्ञासा से उसका मन व्याकुल होने लगा ।

पिया को ऐसा प्रतीत होने लगा कि प्रत्येक दर्शक के नेत्र ईर्ष्या से दीप्त हो रहे हैं । और प्रदीपों की रक्त छटा भी गहरी ईर्ष्या से तीव्र हो रही है । ईर्ष्या ?—हाँ उस मूक, छोटे प्राणी को रक्त-पिपासा की ईर्ष्या ।

खड्ग उठा और द्विखण्डित होकर पशु-मुण्ड दूर गिरकर तड़पने लगा । रक्त बह निकला ।

पपीहरा ने फिर एक बार देवी की ओर देखा, पाई उसने वही पिपासा । देखा उसने रक्त-पिपासा से देवी के नेत्र विस्फारित हो रहे हैं और निशीथ के नेत्र पिपासा से स्तिमित से ।

पिपासा-पिपासा, पिया स्थिर निश्चय पर चली गई—यह पिपासा अवश्य रक्त की है, मूक, छोटे बच्चे के खून की तृषा ।

दूसरे पशु पर फिर खड्ग उठा और साथ-ही-साथ पिया चीख पड़ी—'काका, काका, इस निरपराध, कापुरुषोचित हत्या को रोक दो ।'

निशीथ मुस्कराता उसके निकट आ गया, पूछा—'यह ममत्व कौन जातीय है पिया देवी ?'

विमूढ़ विस्मय से पिया ने कहा—'कौन जातीय ? आप कहना क्या चाहते हैं ?'

'केवल इतना'—कहने लगा निशीथ हँस-हँसकर—'माँस खाते समय ऐसी ममता कहाँ रहती है आपकी ? तो ऐसा कहिए, वह माँस सभ्य रीति से टेबिल पर आ जाया करता है और ममता के स्थान पर वहाँ लोभ बलवान रहता है। बात यही है न पिया देवी ?'

तब तक खड्ग से दूसरे पशु का सिर द्विखण्डित हो गया। पिया उठी और चुपचाप भागी। पिया भाग चली, भाग चली। उसे लगा चहुँओर नर-राक्षस बाँह फैलाये खड़े हैं और बीच में खड़ी है वह। वह राक्षसी है ? नहीं-नहीं, राक्षसी कैसी। वह तो माता की जाति है न ? स्नेहमयी, प्रेममयी, कल्याणी माँ।

माँ की जातीय माँ जो है वह। सन्तान का रक्त क्या वह पान कर सकती है ? किन्तु—किन्तु—उसे लगा—किन्तु। पपीहरा ने अपने अन्तर की ओर देखा—अरे यह नग्न राक्षसी ? उसी स्नेहमयी माँ के हृदय के भीतर यह बूढ़ी राक्षसी कब से बैठी है ? पिया भागी।

परन्तु भागकर वह जाती कहाँ ? वह बूढ़ी राक्षसी जिसने न जाने कितने ही जीवों का रक्त चूसा होगा, वही बूढ़ी राक्षसी जो साथ थी उसके।

भोजन के टेबिल पर सब बैठे थे। पिया ने मांस पर से हाथ खींच लिया।

'खाइए न।'—निशीथ ने कहा।

'मांस न खाऊँगी।'—पिया ने उत्तर दिया।

'कब तक के लिए पिया देवी ?'—निशीथ के व्यंग से पिया तिलमिलाई, कुछ कहने के लिए वह हुई। दृष्टि पड़ी निशीथ के मुँह पर। वह स्तब्ध रह गई—वह पूजा-रत साधक की स्निग्ध मूर्ति कहाँ है ? यह तो जीवित राक्षस है, जिसके नेत्र ईर्ष्या से दीप्त हो रहे हैं। घृणा से पिया ने आँखें फेर लीं।

बना हुआ मांस लेकर हरमोहिनी पहुँचीं—'प्रसाद ले लो थोड़ा-थोड़ा।'

निशीथ ने आग्रह से लिया और बड़ी तृप्ति से भोजन करने लगा। पिया उठकर खड़ी हो गई।

'क्यों क्या बात है बेटी ?'—ज़मींदार ने पूछा।

'मांस न खाऊँगी।'

'मांस कहाँ, यह तो प्रसाद है।'—हरमोहिनी बोलीं।

'बकरे का है न, यदि मुर्गी होती तो शायद पिया देवी ले लेतीं।'—निशीथ हँस रहा था।

'मेरे हिस्से का आप ही ले लीजिए निशीथ बाबू, यह मांस स्वादिष्ट ज्यादा होगा। क्योंकि एक तो मांस प्रसाद हो गया है, दूसरे यह समारोह की हत्या है। रावण नाम का राक्षस यदि यहाँ उपस्थित रहता, तो मैं निश्चय के साथ कह सकती हूँ—वह भी इस समारोह के वध की प्रशंसा किये बिना न रहता।'—सबको विस्मित, चकित कर पपीहरा कमरे से निकल गई।

लज्जा, अपमान से निशीथ का चेहरा काला पड़ गया था। ज़मींदार स्नेह से द्वार की ओर देखने लगे, बोले—'कैसा कोमल मन है।'

और हरमोहिनी मन में झुँझलाने लगीं—'इस लड़की की बातें सभी निराली हैं।'

: २१ :

नदी में स्नान कर और भीगे कपड़े में रहकर पपीहरा बीमार पड़ गई। मारे ज्वर के उसकी सुधि जाती रही। वैद्य, डाक्टरों से सुकान्त ने घर भर दिया।

आहार-निद्रा त्यागकर कविता उसके सिरहाने बैठ गई और एकनिष्ठ साधक जैसा निशीथ उसकी सेवा में लगा। लम्बे-लम्बे चौबीस घंटे निकल जाने लगे; किन्तु उसने रोगिणी के पास से हटने का नाम न लिया।

ज़मींदार सेवा नहीं कर सकते थे तो क्या हुआ, स्वयं अधीर होना और घर के सबको व्यस्त करना तो भली-भाँति जानते थे न। उन्हें निशीथ रात में रोगिणी के पास रहने नहीं देता था, इतना सौभाग्य समझो, वरना उनकी उपस्थिति से रोग बढ़ जाता।

इन सब बातों को देख-सुनकर हरमोहिनी निर्वाक् रह गईं। जब असह्य हुआ तो कविता से बोलीं—'उस लड़की के पीछे भूख-प्यास त्याग बैठी हो, अन्त तक क्या प्राण तजोगी?'

'घर में बीमारी रहने से कुछ अनियम होता ही है। तुम निश्चिन्त रहो माँ, मुझे कुछ न होगा।'—नरम स्वर से कविता ने कहा।

'मैं पूछती हूँ, कोई मरे या जिये तुझे क्या ?'

कविता चुपचाप चली गई।

बकती-झकती हरमोहिनी काम में लग गईं।

किन्तु रात में वह फिर भी रोगिणी के द्वार पर खड़ी हो गईं। देखा, पपीहरा के सिर पर 'आइस-बैग' धरे कविता ऊँघ रही है और निकट में, आराम कुर्सी पर पड़ा निशीथ किताब पढ़ रहा है। एक-दो-तीन मिनट चुपके से निकल गये। उसके बाद उनका कर्कश स्वर उस मृत्यु-छाया-मलिन कमरे में वज्रा-घात-सा रुद्र हो गया। कविता की तन्द्रा टूट गई। निशीथ की किताब ज़मीन पर गिर पड़ी।

सचेत होकर उन दोनों ने सुना—'अपनी सेवा कौन करे, उसका ठिकाना नहीं; वह गई हैं दूसरे की सेवा करने। मेरी कमज़ोर लड़की, वह सेवा करना क्या जाने। और फिर न्युमोनिया जैसे रोग की सेवा। भला वह कर भी सकती है ? फिर छूत की बीमारी। इस घर में सब अन्धेर है। बड़े आदमी हैं तो अपने घर के हैं। मैं अपनी लड़की को मार नहीं डाल सकती। चली आओ कविता।'

कठिन मुख से कविता ने कहा—'यहाँ से उठ नहीं सकती। धीरे बात करो माँ। मुश्किल से सोई है। अभी उसकी नींद खुल जायगी।'

'नींद खुले या न खुले, हमें करना क्या है ? जिसकी लड़की है वह समझे। तुझे क्या ? मैंने इसलिए लड़की नहीं ब्याही कि वह हर एक की सेवा-खुशामद करती फिरे। पैसा है, नर्स क्यों नहीं रख लेते ?'

'तुम सो रहो जाकर माँ।'

'तुझे लेकर ही जाऊँगी, देखें तुझे कौन रोकता है ?'

'मैं अभी नहीं जा सकूँगी।'

'नहीं जा सकेगी ? किन्तु क्यों ?'

'कल कह दूँगी, अभी जाओ।'

'तू चल।'

'नहीं'

हरमोहिनी लड़की को पहचानती थीं, इसके बाद वह भुनभुनाती हुई लौट गई।

पपीहरा की नींद खुली। निशीथ ने चमचे से दवा पिलाई और अपने कपड़े से धीरे-धीरे उसका मुँह पोंछ दिया।

कविता को 'थर्मामीटर' देकर निशीथ बोला—'लगा दीजिए, ज्यादा बुखार मालूम पड़ रहा है।'

पिया आँखें खोले अवश्य थी, किन्तु उन आँखों की दृष्टि बोध-हीन-जैसी थी। कभी इधर देखती, कभी उधर। धीरे-धीरे उसकी दृष्टि निशीथ के मुँह पर गड़-सी गई। वह मुस्कराने लगी। गुनगुनाकर बोली—तुम—'तुम, तुम्हीं हो मेरे देवता !'

निशीथ उसके निकट बैठ गया, सिर पर हाथ फेरने लगा, धीरे से बोला—'कविता देवी, बरफ बदल दीजिए, बैग की बरफ गल गयी है। टेम्परेचर अभी कितना है ? एक सौ पाँच ? मैं भी ऐसा अनुमान कर रहा था। ठहरिए, हाँ, धीरे से बैग रख दीजिए।'

पिया की दृष्टि निशीथ के मुँह पर वैसी ही निबद्ध रही, बोली, बड़े मीठे स्वर से वह कहने लगी—'किन्तु तुम्हें तो मैं

घृणा न कर सकी घोषाल, नहीं कर सकी, नहीं कर सकी। चाहती थी दूसरे मर्दों जैसा तुम्हें भी घृणा करूँ, रन्ध्र-हीन घृणा, छिद्र-हीन घृणा। कुछ न हो पाया। मैं तो तुमसे दूर ही रहना चाहती थी घोषाल—' पिया चुप हो गई परिश्रम की क्लान्ति उसकी आँखों पर छा-सी गई। आँखें झँप आई और निशीथ वैसे ही आदर-स्नेह से उसके सिर पर हाथ फेरने लगा। न निषेध किया और न उसे बाधा दी। बैठा रहा वह चुप—समाधिस्थ-सा।

कविता के विस्फारित नेत्र क्रमशः सजल हुए।

पिया ने फिर आँखें खोलीं। अपने प्रिय के स्पर्श से कदाचित् उसके अन्तर की प्रेममयी, प्रेयसी नारी नग्न होकर बाहर निकल आई हो, या केवल प्रलाप हो, अस्वस्थ मस्तिष्क की कल्पना हो चाहे कुछ हो, वह कहने लगी—'सुनते हो घोषाल, कैसे मज़े की बात है। शायद यह परिहास हो, हृदय का विद्रोह हो, किन्तु इससे बड़ा सत्य तो मेरे जीवन में दूसरा है नहीं, चाहती हूँ तुम्हें। पहेली नहीं तो क्या है? मेरा बाहरी आवरण तुम्हें घृणा करता है—हाँ, अब भी घृणा करता है, तुम्हारी रुचि, संस्कार, नियमों को देख-देखकर घृणा से संकुचित होता है, किन्तु मेरे मन का जो प्राण है वह तुम्हें चाहकर, प्रेम-प्यार से, भक्ति-श्रद्धा से पूजा कर ठीक उसी परिमाण से चरितार्थ होता रहता है। यह रहस्य नहीं तो क्या है? शायद इसे ही प्रेम कहते हों। दूर हटना चाहती हूँ, किन्तु न जाने वह कौन-सी एक शक्ति है, जो तुमसे निकलती रहती है और मुझे अपनी ओर खींचती है। मैं खिचना तो नहीं चाहती प्रियतम। मैं

चाहती हूँ—चाहती हूँ, पिया होकर रहना, दुनिया पर हुकूमत करना चाहती हूँ। अपनी सत्ता को खोना, भूलना नहीं चाहती। सुनते हो ? घृणा—घृणा करना चाहती हूँ। बचा लो मुझे। मुझे अपनी ही होकर रहने दो—अपने-आपकी होकर, सुन रहे हो न तुम ?'

परम आदर से बोला निशीथ—'सुन तो रहा हूँ, सब कुछ। अब ज़रा-सा सो जाओगी न ?'

'सो जाऊँ ?'

'ज़रा-सा सो जाओ।'

'और तुम ?'

'कहाँ जाऊँगा मैं ? यहीं बैठा रहूँगा।'

'रात-भर ?'

'हाँ, रात-भर और दिन-भर।'

'मैं नहीं सोती।'—वह ज़ोर-ज़ोर से सिर हिलाने लगी—'मुझे नींद नहीं आती। यह सब मुझे गड़ रहा है, मैं भाग जाऊँगी, नदी में नहाऊँगी ; ठण्डे पानी में।'

एक बार निशीथ से शायद इतस्ततः किया-न-किया, फिर धीरे से उसके तकिये से हटे हुए सिर को अपनी गोद में रख लिया और पिया आराम से सो रही।

न रुकनेवाले आँसुओं को रोकती हुई कविता बाहर चली गई।

पन्द्रह दिन के बाद पपीहरा स्वस्थ हुई। ज्वर हटा, अब रही मात्र दुर्बलता। तकिये के सहारे वह चुप बैठी थी।

खुली खिड़की के सामने नीम पर बैठा काग चिल्ला रहा

था। अनमन-सी पपीहरा जाने क्या-क्या विचार रही थी। बीमारी की बातें, कविता और निशीथ की सेवा, और जाने क्या-क्या। अस्पष्ट-सा कुछ स्मरण होता, किन्तु फिर न जाने क्यों एक गहरी लज्जा से उसका शरीर, मन आच्छन्न-सा हो जाता था। हजार सिर पीटने पर भी उस लज्जा का कारण उसकी समझ में नहीं आ रहा था। कुछ थोड़े से टूटे-फूटे शब्द, कुछ अपने, कुछ दूसरे के उसके मन में भीड़ लगा रहे थे और कुछ आँसू की बूँदें। बस! द्वार के बाहर आहट हुई। बाहर से निशीथ ने पूछा—'आ सकता हूँ?'

जब उत्तर न मिला तो वह भीतर आ गया—'रो रही हो?'—निशीथ पिया के निकट बैठ गया, पूछा—'यह आँसू कैसे?'

हाथ के उल्टे तरफ से पिया ने जल्दी से आँसू पोंछ लिये, निशीथ का आना वह नहीं जान सकी थी।

'रोती क्यों हो पिया?'

पिया मलिन हँसी—'रोती कहाँ हूँ?'

निशीथ चुप रहा, कुछ ठहरकर बोला—'आज मैं जा रहा हूँ।'

संयत स्वर से पिया ने पूछा—'किस वक्त?'

'दो बजे की ट्रेन से।'

निशीथ संकट में पड़ गया; जिस बात को वह कहना चाहता था—उसको कहते उसका जी जाने कैसा करने लगा। शब्द कंठ के भीतर मूर्छातुर होने लगे।

देर तक वे दोनों चुप बैठे रहे ।

रुक-रुककर निशीथ ने कहा—जल्दी जाना पड़ रहा है पिया, मेरी पत्नी आसन्न-प्रसवा है । कोई डेढ़-दो वर्ष से वह मायके में हैं, बच्चे भी वहीं हैं । बड़ी दो लड़कियाँ पढ़ती हैं—वह चुप रहा, फिर बड़ी कठिनाई से बोला—'शायद तुम जानती न थीं । मैं विवाहित हूँ । जानती भी किस तरह । इन बातों का अवसर भी तो नहीं आया ।'

'जानती थी'—वह सहज स्वर से कहने लगी—'उस दिन धोबी के कपड़े रखते वक्त आपके ट्रंक में आपकी पत्नी का चित्र मैंने देखा था न ।'

असहनीय विस्मय से निशीथ चुप हो रहा । बस, इसके बाद दोनों चुप रहे और उसी नीरवता के भीतर विदा की छोटी-सी वेला—निविड़ गाम्भीर्य से भरी थमथमाती रह गई—रह गई ।

निशीथ को गये सप्ताह निकल गया । पपीहरा काका से बोली—'यहाँ पर बिल्कुल अच्छा नहीं लगता, घर चलो काका ।'

'ज़रा और चार-दिन ठहर जा बेटी ?'—डरते-डरते सुकान्त ने कहा । किन्तु उनके विस्मय का ठिकाना न रहा, जब कि अनायास पिया का छोटा-सा उत्तर मिला—'अच्छा ।' ऐसे अनायास मत दे देना पिया के स्वभाव में ऐसा नूतन, असम्भव था कि सुकान्त कुछ देर बात न कर सके ।

थोड़े दिन, किन्तु उन थोड़े दिनों में कविता पिया के बहुत कुछ के साथ परिचित हो चुकी थी । सहसा पिया का परिवर्तन,

उसका गाम्भीर्य कविता को अद्भुत तो लगा ज़रूर, किन्तु उसने कुछ पूछा नहीं।

उधर ज़मींदार अधीर हुए। कहा एक दिन—'ऐसा तुझे सोहता नहीं पिऊ।'

'कौन-सी बात ?'

'यह गाम्भीर्य मेरी बालिका पिया को बूढ़ी कर रहा है। हँसी की फुलझड़ी तूने कहाँ खो दी बिटिया ? घोड़े को कैसे भूल गई ? और—और मेरी वह ज़िद्दी बेटी कहाँ गुम हो गई ? उसके ज़िद्द, ऊधम के बिना तो सब सूना हो रहा है।'

पिया हँसी, किन्तु उस जबर्दस्ती की हँसी ने सुकान्त का हृदय व्यथातुर कर दिया।

: २२ :

'अपनी भूल मैं समझ गई पिया और अच्छी तरह से समझ गई ?'

'ऐसा ?'

'मर्दों को तुम बहुरूपिया कहा करती हो—सो बिल्कुल ठीक है।'

'अचानक ऐसी कौन-सी बात हो गई काकू ?'

बातें हो रही थीं कविता और पपीहरा में, शहर के एक बड़े मकान के सजे कमरे में दोनों बैठी थीं। दीर्घ वर्षों के

बीतने के साथ-ही-साथ इस परिवार का भी थोड़ा-बहुत परि-वर्तन हो गया था। सुकान्त ने पेन्शन ले ली थी। शहर में रहते थे। बड़ा और सुन्दर मकान शहर में बना लिया था, अतुलनीय गृहसज्जा। गृह-कर्त्री थी नीलिमा। निष्फल क्रोध से हरमोहिनी गरजती रहतीं। कविता किसी बात में नहीं रहती थी, न गृहस्थी की बात में न पति की। पिया के लिए घोड़ा और चाबुक तो था ही, उपरान्त एक और वस्तु ने उसे आकृष्ट कर लिया था, वह था चरखा। अब वह सूत कातती, खादी पहनती।

तो बातें चल रही थीं उन्हीं दोनों में।

'कौन-सी बात ? सह सकोगी उस बात को ?'—कविता ने कहा।

'न सह सकने का कभी कुछ मुझमें देखा है ?'—अपनी बात में पपीहरा आप ही हँसकर व्याकुल होने लगी और फिर देर के बाद जब हँसी रुकी तो पूछा—'दिल्लगी नहीं काकू, चुपके से सुन लूँगी, सब सह लूँगी। अब मैं बदल भी तो गई हूँ।'

'कहने को जी नहीं चाहता।'

'तो चुप रहो।'

'वैसा भी नहीं कर सकती।'

'तो नदी में डूबी बैठी रहो।'

'चुह रह पिऊ, तुझे सावधान करना चाहती हूँ।'

'तो कर दो।'

'दिल्लगी अच्छी नहीं लगती पिऊ।'

'चुप-चुप, पिऊ नहीं, पिया कहो ।'—आर्त चीत्कार-सा पिया का स्वर कमरे के कोने-कोने में माथा पीटता फिरने लगा, नहीं-नहीं, पिऊ नहीं । पिऊ कहती थी मेरी दीदी । तुम पिऊ कहकर मत पुकारो, सह नहीं सकती । पापी कहो, पपीहरा कहो, चाहे कुछ कहो, पिऊ नहीं । मैं जाऊँगी ।'

'कहाँ ?'

'दीदी के पास । देखूंगी, वे किस तरह मेरी दीदी को रोककर रख सकते हैं ।'

'कब आओगी ?'

'जल्दी ।'

कविता मौन रही ।

'क्या बात कहने को थी काकू ?'

'तू सह सकेगी ?'—कविता के स्वर में सन्देह था और पिया के स्वर में झुँझलाहट ।

'रहने दे अपनी बात । मैं नहीं सुनना चाहती, कहना है तो झटपट कह डालो ।'

'निशीथ विवाहित है ।'

उच्च स्वर से पिया हँसी—'ऐसी चढ़ी-बढ़ी भूमिका के बाद यह बात ? सच कहती हूँ काकू, मैं कल्पना भी न कर सकी थी कि उस भूमिका के बाद एक ऐसी बात सुनने को मिलेगी ।'

'अब दाँत बन्द करोगी कि हँसती ही जाओगी ? हर बात में दाँत निकालना, तेरी हँसी देखने से जी जलता है । सोचती है तेरी तरह मैं भी परिहास करती हूँ । मैंने तो गिरीश

बाबू के घर अपनी आँखों उसकी स्त्री को देखा है। तू झूठ मानती है ?'

'सच तो मान रही हूँ काकू।'

'फिर हँसती क्यों है ?'

'हँसी आती है।'

'अच्छी हँसी आती है। पापी—प्रतारक कहीं का।'

'शादी करना क्या कोई पाप है ?'

'पाप नहीं तो क्या है ? जब कि वह विवाहित था तो कह क्यों न दिया ? किसी को इस तरह से आकर्षित करना, छि: छि:, यदि विवाहित था तो उसने ऐसा किया क्यों ?'

'तुम्हें उसने आकर्षित किया काकू ? अरे—मुझसे तुमने कहा क्यों नहीं ?'

क्रोध से विवश कविता उठी और चलने को हुई। पिया झपटी-झपटी गई, उसे पकड़ लाई। दोनों बैठ गईं।

पिया ने कहा—'बात नई नहीं है काकू।'

'तुम जानती थीं ?'

'बहुत पहले से।'

'ऐसा ! किन्तु फिर भी कहूँगी—निशीथ बाबू का बर्ताव भद्रोचित नहीं हुआ। उन्हें यहाँ आना चाहिए था ?'

'बिल्कुल न आवें ? किन्तु एक स्त्री जब लज्जा-शर्म को तिलांजलि देकर, अयाचित भाव से अपना प्रेम उस पर प्रकट कर सकती है, मुझे तो स्मरण नहीं, तुम्हीं से सुना है कि उस बीमारी के वक्त मैंने उनसे बहुत कुछ कह दिया। हाँ, तो जब

स्त्री अपना प्यार, चाह की गोपन-वार्ता एक पुरुष को अनायास सुना सकती है, तब क्या उनका यहाँ आना ही अपराध हुआ ? उस प्रेम की मर्यादा रखने के लिए कभी उनका आ जाना ही क्यों बड़ा अपराध है ? क्या करोगी तुम काकू, हमारा स्वभाव है अपना अपराध दूसरे के माथे मढ़ देना ।'

विवर्ण मुख से कवि ने पूछा—'कब से तुम जानती थीं कि वह विवाहित है ?'

'जब वह गाँव पर मेरे साथ गये थे, बीमार होने के पहले ।'

'सब जानकर तुमने ऐसा क्यों किया पापी ?'

प्रश्न किया कविता ने और पपीहरा पल-पल में मलिन हो गई—मलिन हो गई । पिया—पिया, पद्म-पराग-सी, वन की छाया-सी पिया, मीठी पपीहरा मलिन हो गई ।

'मैं कहती हूँ और ज़ोर के साथ कह सकती हूँ अब भी तुम उस नीच को चाहती हो ।'

'तो इससे क्या ?'—पिया के मुँह की हँसी फिर सजीव हो गई ।

'इससे क्या ? खेद है पिया ? जब तुम जान गईं कि वह विवाहित है तब तुम सावधान क्यों न हुईं ?'

'यदि प्रेम को तौलने की कोई कसौटी रहती तो मैं भी उसे तौलती और समझती कि वह कितना वज़नदार है । वह तो किसी का आज्ञाकारी नहीं है काकू । मैं उन्हें चाहती हूँ, बस जानती हूँ इतना ही, न विचार है न द्विधा । सावधान होने की चेष्टा नहीं की, यदि ऐसा कहूँ तो झूठ कहना होगा । मैं तो

घृणा करना चाहती थी। जाने दो इन बातों को, तुम न समझोगी।'

'ऐसी कौन-सी बात है, जो समझाने पर भी न समझी जाय ?'

पिया मुस्कराई—'सब बातों को सब लोग नहीं समझ सकते। द्विधाहीन स्वर से मैं केवल इतना कह सकती हूँ कि मेरा प्रेम मेरा ही रहेगा, इससे दुनिया को हानि न पहुँच सकेगी—जरा भी नहीं।'

'तू उसे ऐसा ही चाहती रहेगी ? अपने पति के घर जाकर भी दूसरे को प्रेम करेगी ? क्यों भूलती हो पापी, उसकी स्त्री है और वह सन्तान का पिता है।'

'तो उनके पतित्व और पितृत्व को मैं कब छीन रही हूँ ? वह संतानवत्सल पिता बने रहें और पत्नी-प्रेमी पति। मैं तो जी से ऐसा चाहती हूँ। यदि इस बात को भूल सकती तो उन्हें अपनी बाँहों में खींच न लेती ? तुम्हें तो मैं बुद्धिमती समझती थी, फिर इस ज़रा-सी बात को समझ क्यों न रही हो ? मैं अपने सिद्धान्त को कभी भी किसी के लिए नष्ट नहीं कर सकती। यदि वह विवाहित न भी होते तो भी मैं उनकी पत्नी नहीं बन सकती थी।'

'उसे इसी तरह भरमाये लिए फिरती ? यह कैसा रहस्य है ?'

'बिल्कुल नहीं। संयोगवश शायद उन्हें इस प्रेम की खबर लग गई है, वरना यह प्रेम-वार्ता दुनिया से छिपी ही रह जाती काकू ! दुनिया की धूलि में उस प्रेम को कलंकित करने की

वासना किसी दिन नहीं थी। स्वीकार करती हूँ, उन्हें मैं चाहती हूँ और इसके लिए लज्जित भी नहीं हूँ। विस्मित हो रही हो? निर्लज्ज हूँ? किन्तु मेरे विचार से एकनिष्ठ प्रेम एक ऐसी वस्तु है, जिसे लज्जा, संकोच स्पर्श नहीं करता। ईश्वर को अनेक धन्यवाद है कि उनकी पत्नी होने का रास्ता न रखा, नहीं तो कौन जाने उस पत्नीत्व के आवरण में मेरा यह अम्लान, श्रेष्ठ प्रेम कदाचित् कुत्सित, विकलांग हो जाता। कहती थी तुम सबकी तरह प्रेम को मैं अपराध की संज्ञा नहीं दे सकती। खेद और लज्जा है केवल उसके प्रकट हो जाने पर। परन्तु अब उसे सुधारने का कोई उपाय भी तो नहीं है काकू!'

'उपाय नहीं है? और मैं कहती हूँ उपाय तेरे हाथों में है।'

'मेरे हाथ में? कहो-कहो वह क्या है?'—अधीरता से पिया बोली।

'तुम विवाह कर लो, सब कुछ ठीक हो जायगा, अच्छे-से-अच्छे लड़के तैयार हैं।'

'विवाह कर लूँ? अपने साथ मैं प्रतारणा करूँ! यह मुझ से न हो सकेगा। मेरा जी तो उनके द्वार पर पड़ा है फिर वहाँ दूसरे की जगह कैसे हो सकती है? यदि किसी से विवाह कर लूँ तो क्या मेरा प्रेम मेरे पास वापस आ जायगा, जो कि एक दिन किसी के द्वार पर लुट चुका है? कहो, उत्तर दो काकू!'

कविता कुछ देर चुप रही; फिर बोली—'तुम शादी करोगी नहीं? कभी नहीं? यदि कभी किसी से तुम्हारे मत की समता हो जाय?'

'हो सकता है। किन्तु मेरे प्रेम का कोई 'बेरामीटर' नहीं

है। सोच-समझकर, धीरे-सुस्ते कभी प्रेम हो सकता है ? कौन जाने शायद ऐसा हो, परन्तु मैं उसे समझती नहीं। मैं जान भी नहीं सकी थी कि किस दिन मेरा प्रेम लुट गया। काका के सिवा बाकी मर्दों को तो मैं घृणा करती थी न। विस्मित हूँ, नहीं जानती कि यह कैसे क्या हो गया। और किसी से मैं ब्याह नहीं कर सकती।'

'न जाने तुम कैसी हो पिया। जाने कैसी अद्‌भुत-सी, रहस्य-सी !'

'तुमसे ज़्यादा रहस्यमयी हूँ मैं ?'

'रहस्यमयी—मैं ?'

'हाँ तुम। मुझे तो लगता है तुम निरी पहेली हो।'

'क्यों ऐसा लगता है पिया ?'

'जाने शादी के कितने वर्ष हो गये, किन्तु काका से हँसकर बात करते तुम्हें कभी न देखा। न तो गहने-कपड़े की चाह, न गृहस्थी की, न पति की। न जाने तुम कैसी हो। मुझे लगता है तुम्हारा मन बूढ़ा हो गया है—बिल्कुल बूढ़ा। अद्‌भुत जीवन है !'

'यों ही अच्छी हूँ।'

'सच तो कह दे मेरी काकू, काका को तुम बिल्कुल नहीं चाहतीं ?'

'इन बातों को जाने दो पिया।'

'मैं सुनूँगी। मैं तुमसे कभी कुछ नहीं छिपाती, फिर तुम मुझसे क्यों छिपाती हो ?'

'मेरा प्रेम विचारहीन नहीं है पिया।'

'आश्चर्य है काकू, मेरे काका-जैसे व्यक्ति के लिए भी तुम्हें सोचने-विचारने की ज़रूरत पड़ती है। क्या तुम सच कह रही हो ?'

'परन्तु यदि पति—नहीं जाने दो, वह तुम्हारे काका हैं।'

'रुकी क्यों, कहो मेरे काका में ऐसा कोई अवगुण नहीं रह सकता जो कि उनकी भतीजी से नहीं कहा जा सके।'—रुष्ट स्वर से पिया ने कहा।

'क्यों चिढ़ती हो पिया रानी। सम्भव और असम्भव का विचार करने जाकर कभी हम ऐसी भूल कर बैठते हैं, कि उस भूल को यदि हम समझ सकें तो उस समय एक आत्महत्या के सिवा हमारे लिए दूसरा रास्ता न रहे, किन्तु सन्तोष और आश्वासन की बड़ी बात तो यह है कि उस भूल को हम शायद ही कभी भूल कहकर पहचान सकते हों, असम्भव भी कभी सम्भव हो जाता है। आदमी अपने आपको अन्त तक नहीं पहचान पाता, वह दूसरे को कैसे पहचान सकता है ? मैं कहती हूँ, इस बात को जाने दो।'

पिया की असम्भव-सी गम्भीर आकृति को देखकर कविता हँसी को न रोक सकी—'सच कह रही हूँ, ऐसी गम्भीरता मुझे सोहती नहीं पापी।'

'चलो रहने भी दो।'

'एक बात और कह दे रानी; मेरी पिया, रानी पिया।'

'कुछ न कहूँगी।'

'अच्छा न कहो, मुझ दुखिया से तुम भी मुँह फेर लो। क्या करना है, न कहो।'

'बड़ी खराब हो, तो पूछो न क्या पूछती हो ?'—उसने कविता के गले में बाँह डाल दी ।

'निशीथ को पास में पाने की इच्छा कभी नहीं होती ?'

'नहीं—।' ताच्छल्य से पिया ने उत्तर दिया ।

'तुम्हारा सब कुछ असाधारण है ।'

'होगा भी ।'—अनमनी-सी पिया बोली ।

'मेरी एक बात तू रख ले ।'

'और तुम भी मेरा कहा मानो ।'—पिया ने कहा ।

'अच्छी बात है, पहले मेरी सुनो ।'

'अरे तो कह न । लगी वही भूमिका रचने ।'

'तुम शादी कर लो पिया ।'

'शादी कर लूँ ? और वेश्या होकर रहूँ ?'

'वेश्या ? क्या कह रही हो पिया ?'

'एक को जब मैंने हृदय से चाह लिया है, तब दूसरे से शादी करना—वेश्या बनना नहीं तो क्या है ?'

कविता सिहर उठी । बार-बार वह कहने लगी—वेश्या, वेश्या !

ज़ोर के साथ पपीहरा ने कहा—'वेश्या का जन्म कहीं बाज़ार में नहीं होता, हम स्त्रियों के अन्तर ही में हुआ करता है काकू । बाज़ार में तो उसके व्यवसाय से हमारी भेंट होती है, वही व्यवसाय, जिसकी हम जी खोलकर निन्दा करते है, समालोचना करते हैं, परन्तु हमारे मन में, जन्म-जन्मान्तर से जिस वेश्या का जन्म होता चला आ रहा है, उसकी खबर भी रखते हैं हम ? किन्तु तुम्हारा चेहरा ऐसा बिवर्ण क्यों होता

चला जा रहा है ? नाराज़ हो गईं ? मैंने कहा न कि मेरी बातें तुम न समझोगी । अच्छा, लो मैं चुप हूँ ।'

'अब अपनी बात कहो ।'—बोली कविता धीरे से ।

'मेरी बात ? सीधी और छोटी है । बात नहीं, यह मेरा अनुरोध समझो काकू । काका को ज़रा स्नेह की दृष्टि से देखा करो, कभी उनके पास जाया करो । कहो, मेरे काका को स्नेह करोगी न ?'—आकुल आग्रह से पिया कहने लगी ।

कविता की आँखों में आँसू भर आये । उन आँसुओं को देखकर पिया की दृष्टि व्यथा से म्लान हो गई । इसके बाद ? इसके बाद उसने चुपकी साध ली । मानो जन्म की गूंगी हो ।

पिया का अनुरोध कविता को व्यथित करने लगा । उसके कानों में वह व्यथित-भिक्षा गूँजने लगी—काका को ज़रा स्नेह करना, कभी उनके पास चली जाना ।

तो रात्रि के अन्धकार में कविता चली पति के लिए स्नेह लेकर । शायद वह स्नेह अधिक रहा हो, कम रहा हो ।

गुलाब-जल में बसे पान के बीड़े हाथ में ले लिये और ज़रा बाल भी सँवार लिये, शायद एक रंगीन साड़ी भी पहन रखी थी । ऊपर चली गई । सामने पति का कमरा था । उसका नहीं, था वह उसके पति का कमरा । द्वार पर सुदृश्य काश्मीरी पर्दा झूल रहा था । धीरे से कविता ने पर्दा हटाया और द्वार के भीतर पैर रखा । उसी पल में वह एकदम शव-सी विवर्ण, स्पन्दनहीन हो गई ।

भीतर से सुकान्त की आवाज़ सुन पड़ी—'कौन है ? कविता ! भीतर चली आओ न, सर में बड़ा दर्द है, नीलिमा

दाब रही है। चली जाओ।'

नीलिमा उसके निकट से निकलती चली गई। स्वप्नाविष्ट की तरह कविता भीतर आई और पान रखकर लौटने लगी।

सुकान्त ने पुकारा—'जाती कहाँ हो ? यहाँ चली आओ।'

चुपचाप कविता चली गई। नहीं, पिया के सहस्र अनुरोध से भी इससे अधिक वह और कुछ नहीं कर सकती है। पाँच मिनट आगे कदाचित् और भी कुछ कर सकती थी, किन्तु अब ? नहीं-नहीं इतना बहुत है, इससे ज्यादा कुछ नहीं कर सकती, नहीं कर सकती।

: २३ :

पुराने नौकर के साथ पपीहरा एक छोटे-से स्टेशन पर उतरी। बड़ा गाँव, छोटा स्टेशन। ग्राम था विभूति का। टूटे-फूटे दो-तीन ताँगे स्टेशन पर खड़े थे, कई बैलगाड़ियाँ। दो ताँगे किराये पर कर लिये, एक में सामान लादा, दूसरे में पिया और नौकर बैठ गये। ठण्ड जोर की पड़ रही थी, सूर्य की नींद तब खुली न थी। दोनों ओर ऊँचे वृक्षों पर काक बैठे पुकार रहे थे। ग्राम की कच्ची सड़क से मन्थर गति से ताँगे चले जा रहे थे। पिया को ग्राम का दृश्य बहुत सुन्दर लगा। उसे उन दिनों की बात स्मरण हो आई जब कि वह अपने गाँव में थी। वे दो महीने उसे अब स्वप्न-से लगते। किन्तु उन दो महीनों की स्मृति उसके पास विनाश-हीन थी।

स्नेह-पूर्ण दृष्टि से पिया चहुँओर देखने लगी। कृषक स्त्री-पुरुष खेत की ओर चले जा रहे थे। कोई कन्धे पर कुदाली रखे था, कोई कुछ, एक-एक थैली हाथ में लटक रही थी। कोई बिरहा गाता जाता था, कोई तम्बाकू हाथ पर मल रहा था। स्त्रियों के सिर पर थी टोकरी, बच्चे उनकी पीठ से बँधे थे, कोई सिर की टोकरी में पड़ा हँसता जा रहा था। क्रमशः ताँगे गाँव के भीतर पहुँचे, कुत्तों का झुण्ड पीछे-पीछे भौंकता चला आने लगा। कृषक की फूस की झोंपड़ियों में कहीं धूआँ निकल रहा था। बूढ़ा कृषक बाहर बैठा आग ताप रहा था और बैल के लिए रस्सा बट रहा था। मोदी की दुकान के सामने उलंग बालकों की भीड़ थी, मोदी उन्हें लइया देने में व्यस्त था, अवसर देखकर गाय ने मुँह मार दिया और भरी टोकरी के चने गिर गये, मोदी मोटी लाठी लेकर उसके पीछे-पीछे दौड़ा तब तक दुकान पर लइया की लूट होगई, गुलाबरेवड़ी की थाली भी खाली रह गई। मोदी लौटा तो व्यर्थ आक्रोश से पत्नी पर गरजने लगा। मोदी-बहू नदी से लौटी थी, पानी का घड़ा सिर पर लिये, उसने भी युद्ध की घोषणा कर दी। और कौतुक देखकर गाड़ी पर बैठी-बैठी पपीहरा मुस्कराने लगी।

ताँगा विभूति के द्वार पर रुका। नौकर सामान उतारने लगा, पिया चुपचाप भीतर चल पड़ी। बैठक में पैर धरते ही मिल गया विभूति। विभूति पहले चौंका और फिर एकदम स्थिर हो गया, विवर्ण, अभिभूत। उसे लग रहा था किसी तरह वह वहाँ से भाग निकले। पिया ने उसे देखा, उसके भाव को वह

कुछ समझो। हँसकर बोली—'कैसे हो जीजा जी ? मुझे तो तुम सबने बायकाट कर दिया है। छोटी बहन को क्या इस तरह भूल जाता है भैया ?'

पिया के भैया सम्बोधन में न जाने कौन-सी मोहिनी भरी थी, जिस छोटे शब्द ने विभूति के मन में उथल-पुथल मचा दी। वह सिर खुजलाकर कहने लगा—'बात यह है...'

पिया खिलखिला पड़ी—'बस, बस। रहने दीजिए। चलो भैया, माताजी के दर्शन तो करूँ।'

विभूति को विचारने का अवसर न देकर पिया ने निःसंशय भाव से विभूति का हाथ पकड़ लिया और खींचती उसे भीतर ले चली।

भीतर एक निराला दृश्य था। विभूति की माँ गला फाड़-फाड़कर बहू के चौदह पुरुषों के पिंड-दान की व्यवस्था कर रही थीं, महरी उनके पक्ष में थी, जिस बात को वह अर्द्ध समाप्त छोड़ रही थीं, महरी उसे पूरा कर रही थी। अपराधिनी वधू यमुना पिरिच के टूटे टुकड़ों के बटोरने में लगी थी। बात समझने में विभूति को देर न लगी, क्योंकि यह बात उस घर में साधारण सी थी। बहू नित्य बकी जाती थी। इसमें कोई नूतनत्व नहीं था।

जल्दी से विभूति ने पुकारा—'माँ, देखो तो इधर किसे लाया हूँ।'

एक साधारण मोटी साड़ी पहने हुए उस लड़की को देखकर जिज्ञासापूर्ण नेत्र से माता ने पुत्र की ओर देखा।

उनके पैर पकड़कर पिया कहने लगी—'तुमको मैंने कभी

देखा नहीं था। विभु भैया ऐसे हैं कि स्वयं न कभी जाते न मुझे लाते हैं कि चलो ज़रा माताजी के दर्शन तो करा लाऊँ। क्या करूँ अम्मा, जी घबराने लगा तो तुम्हें देखने भागी-भागी चली आई।'

उस लड़की को मीठी-मीठी बातों से विभूति-जननी ऐसी प्रसन्न हुईं कि उसका मुँह चूम लिया और कहने लगीं—'तुमको मैंने देखा नहीं बिटिया! कहाँ से आ रही हो?'

'मैं? तुम्हारी लड़की हूँ। माँ के पास कहीं लड़की का भी कुछ परिचय रहता है? तुम मेरी माँ हो, पूछो न अपनी बहू से।'

आँख में आँसू और मुँह में प्रसन्न हँसी भरे यमुना बोली —'मेरी छोटी बहन पपीहरा है यह अम्माजी!'

यह पपीहरा है? वही पपीहरा जिसके कारण उनकी बहू अपने मामा की अगाध सम्पत्ति की प्रभु नहीं बन सकी, वही पपीहरा? जिस लड़की की निन्दा विभूति किया करता है, जिसका फैशन, बनाव, शृंगार देश-विख्यात है, वही घोड़े पर चढ़नेवाली, घमण्डी लड़की यही है? विस्मित विभूति-जननी के हृदय में पल-पल में ऐसे अनेक प्रश्न उठ पड़े, साथ में अखण्ड विस्मय। क्योंकि इस लड़की में उन सुनी हुई बातों का वह एक अंश भी नहीं पा रही थीं।

गृहिणी की समालोचक दृष्टि फिर भी एक बार सामने खड़ी लड़की पर जा गिरी। उस दृष्टि ने पाया, पैर की धूलि-मलिन साधारण चप्पल, साफ़ किन्तु मोटी साड़ी, हाथों में तीन-तीन बारीक सोने की चूड़ियाँ, कान में झुमके, गले में भी योंही कुछ। सिर पर बड़ा-सा एक जूड़ा, शायद अवहेलना से

बालों को किसी प्रकार से लपेटकर काँटे से अटकाया गया था। फ़ैशन का, परिपाटी का कहीं चिह्न तक नहीं। उन बालों से घिरा, श्याम श्री-मंडित मुख, घने पलक के बीच को आयत, प्रतिभा-उज्ज्वल नेत्र गृहिणी को बहुत ही अच्छे लगे। यही है पपीहरा ? ऐसी अच्छी, ऐसी भली, देवी-सी ? कुछ देर उसे देखकर गृहिणी बोलीं—'तुम, तुम्हीं पपीहरा हो ? ऐसी सरस्वती-सी सुन्दर !'

'मैं तो पिया हूँ अम्मा !'—पपीहरा मुस्कराई।

'नहीं, मैं तुम्हें बिटिया कहकर पुकारूँगी, लाड़ली बिटिया।'

गृहिणी वधू की ओर लौटीं—'स्वाँग बनी खड़ी न रहो दुलहिन, बेचारी लड़की दौड़ी आई है मुझसे मिलने ; जाओ, उसके कुछ आदर-सत्कार की व्यवस्था करो। कपड़े बदलवाओ। चाय तुम न बनाना, चाय और जलपान बिटिया के लिए मैं अपने हाथ से बनाऊँगी।'

विभूति व्यस्त हुआ—'स्नान के लिए पिया को 'टब' चाहिए। ठहरो मैं लाता हूँ।'

'तुम बाहर जाओ जीजा। यदि मेरी माँ-बहन बिना 'बाथ-टब' के नहा सकती हैं तो मुझे भी 'टब' की ज़रूरत न पड़ेगी।'

सप्ताह बीत गया ; किन्तु पपीहरा ने घर लौटने का नाम न लिया। गृहिणी ने तो मानों स्वर्ग ही पा लिया, आने-जाने की कौन कहे, दिन-रात वह पिया को अपने पास बैठाये रहती। पिया उन्हें अच्छी-अच्छी कहानियाँ, महाभारत, रामायण पढ़कर सुनाती। सिर के सफ़ेद बाल चुनती, गाना सुनाती और रात में छोटी बालिका-सी हठ करती—'अम्माजी, कहानी कहो।

नहीं यह लालवाली कहानी मैं जानती हूँ पातालपुरवाली कहो। तो पाताल में राजकन्या चित्रलेखा रहती थी ? दिन-भर सोती रात में जागती ? कैसे जागती अम्मा ? पारिजात फूल की गन्ध से ? तो इन्द्र-सभा से वह पुष्प कौन लाता था ? अच्छा, राजकुँवर इन्द्रनील ? समुन्दर के किनारे का वह महल सोने का था, एकदम सोने का ? कितना बड़ा था अम्मा, चित्रलेखा दिन भर सोती क्यों थी, ऐसी नींद उसे कहाँ से आ आती थी माँ ? कहो न, तुम तो चुप हो।'

गृहिणी हँसकर उत्तर देतीं—'पगली बिटिया, चित्रलेखा आदमी थोड़े ही थी। वह शाप-भ्रष्ट किन्नरी थी। इन्द्र के शाप से पृथ्वी में आई थी। मुचकुन्द का फूल सुँघाकर कुँवर इन्द्रनील उसे सुला देता था और स्वर्णपद्म की खोज में जाता था। उस पद्म के स्पर्श से कन्या शाप से बचेगी न।'

यों ही पिया तन्मय होकर रात-रातभर कहानी सुनती रहती। उसे बड़ा अच्छा लगता, कहानी के भीतर वह अपने को खो देती, दूर खड़े यमुना, विभूति हँसते, कभी उसे चिढ़ाते। पिया झुँझलाती। उस ओर से मुँह फेरकर पूछती—फिर क्या हुआ ? चन्दन-वन के अजगरों ने कुँवर इन्द्रनीलसिंह को डँस तो नहीं लिया ?—अत्यन्त व्यथा से उदग्रीव होकर वह पूछती और फिर पूछती—डँस तो नहीं लिया ?

विभूति कहता—'कैसी पगली है, यदि इन्द्रनील को साँप डँस लेता तो कहानी बनती कैसे ?'

खिसियाकर पिया कहती—'तुम्हें किसने बुलाया जीजा ? जाओ यहाँ से। देखो न अम्मा, जीजा नहीं मानते।'

'क्यों बेचारी लड़की को चिढ़ाता है, जा यहाँ से ।'—विभूति-जननी कहतीं ।

इसी तरह दो सप्ताह निकलते-निकलते पिया एक दिन हठ कर बैठी—'अम्माजी, तुम भी मेरे साथ चलो ।'

अत्यन्त प्रसन्नता से गृहिणी बोलीं—'चलूंगी बेटी, किन्तु अभी नहीं ।'

'मैं अकेली लौटूं ?'

'नहीं बिटिया, विभूति और दुलहिन को साथ लेती जाओ, दुलहिन जाने कैसी है, न ममता है न कुछ । कभी मायके जाने का नाम नहीं लेती । ऐसी बहन है उससे पूछती नहीं । दोनों को ले जा बिटिया ।'

मारे खुशी के पपीहरा उछल पड़ी । दौड़कर यमुना से शुभ वार्ता कह आई ।

यमुना ने उसे हृदय से लगा लिया, आँसू से वह अंधी होने लगी ।

दूसरे दिन उन दोनों के साथ पिया घर लौटी । कविता से उन दोनों का परिचय करा दिया ।

चाय के टेबिल पर जमींदार के सिवा घर के और सब लोग बैठे चाय पी रहे थे और बातें हो रही थीं ।

'आलोक आता नहीं है पिया ?'—विभूति ने पूछा ।

'कम आते हैं, यहूदी स्त्री से उन्होंने शादी कर ली है । बाहर कोई आया । अरे यह तो निशीथ बाबू हैं । आइए न, वहाँ क्यों खड़े हैं ?'

निशीथ ने विभूति को देखा और विभूति ने निशीथ को ।

दोनों का मन अस्वस्थ हो गया, एक का सान्निध्य दूसरे को अरुचिकर होने लगा।

पहले बोला विभूति—'अच्छे तो हो न? आज सर में बड़ा दर्द हो रहा है पिया, चलूं—ज़रा सो रहूँ।'

पिया व्यस्त हुई—'नहीं-नहीं, यहीं सो रहो। उस 'काउच' पर लेट जाओ जीजा। 'बाम' मले देती हूँ।' वाद-प्रतिवाद का अवसर न देकर जबरन पिया ने विभूति को वहाँ लिटाया, एवं आप उसके सिरहाने बैठी ललाट पर 'बाम' मलने लगी।

सेवा करने में पिया लग गई, किन्तु निशीथ की दृष्टि में यह सेवा जाने कैसे अद्भुत-सी लगने लगी। एक दिन जिसने उसका अपमान किया था, उस पशु के लिए आज ऐसी सहानुभूति, ऐसी सेवा? पिया का व्यवहार निशीथ को जैसा तो अशोभन लगने लगा, वैसा ही अस्वाभाविक, अद्भुत। वह विचारने लगा—एक दिन जिसने लात मारकर विभूति को दूर हटा दिया था, आज अनायास ही आदर, स्नेह से उसी ने उसे किस तरह गोद में खींच लिया? कैसी है यह छलनामयी नारी? निशीथ स्थिर निश्चय पर चला गया—यदि नारी का हृदय है, तो वहाँ वास्तविक प्रेम की अनुभूति, मान-अपमान का ज्ञान, यथार्थ स्नेह नहीं है। है मात्र ख़याल का खेल, और प्रेम का अभिनय। बस, यही है नारी के वास्तविक हृदय का चित्र। घृणा, विराग से निशीथ ने मुँह फेर लिया।

उसे उठते देखकर पिया बोली—'ऐसी जल्दी क्यों चले? बैठिए न।' निशीथ चुप रहा।

अचानक पिया की दृष्टि निशीथ के मुँह पर पड़ी, वह

सिहर उठी—'अरे, आपको क्या हो गया ?'

और निशीथ ? मतवाला-सा उठता-गिरता वह भाग निकला, भाग निकला ।

: २४ :

अलसाई-सी दोपहरी में दो की घण्टी विरह-विधुरा तरुणी-सी बोल उठी, टिन-टिन ।

क्लान्त स्वर से कविता कहने लगी—'न जाने यह कब तक बनेगा, मेरा तो जी ऊब गया ।'

हरमोहिनी पड़ोस में बैठने चली गई थीं । नीलिमा अपने कमरे में सो रही थी । सुकान्त बैठक में थे । विभूति कहीं बाहर गया था । कविता और यमुना बैठी मोर बना रही थीं । काला 'वेलवेट' का टुकड़ा एक लकड़ी के 'फ्रेम' में तना हुआ था और उस पर मछली के छिलके का बना सफ़ेद मोर मानो उड़ने को था । उसका सूक्ष्म कारुकार्य एक देखने की वस्तु थी । अनजान व्यक्ति उस छिलके के काम को हाथी-दाँत का काम अनायास कह सकता था ।

मोर प्रायः बन चुका था । अब वह दोनों लाल, हरे सलमे के छोटे-छोटे टुकड़े उसके पँख में सी रही थीं । आश्वासन देती हुई यमुना बोली—'बन गया है, घबराती क्यों हो मामी ! थोड़ा-सा काम बाकी है, वह भी आठ-दस दिन में हो जायगा । तब तक तुम चली जाओगी ।'

'शायद न जाऊँ। अम्मा आने को हैं न।'

'तुम्हारी सास आवेंगी ?'

'हाँ !'

कुछ इतस्तत: कर कविता ने कहा—'यदि बुरा न मानो तो एक बात कहूँ।'

'मैं तुम्हारी बातों का बुरा मानूं ? ऐसा नहीं हो सकता, तुम असंकोच कहो।'

'सुनती थी विभूति बाबू ज़रा दूसरे ढंग के हैं ; किन्तु मैं तो उन्हें एक सीधे-सादे आदमी के रूप में देखती हूँ यमुना !'

'जो कुछ तुमने सुना था उसकी सत्यता मैं नहीं जानती, परन्तु इतना कह सकती हूँ कि अब जो कुछ देख रही हो उसे तुम पिया का मन्त्र समझो। मुझे स्वयं ही समझ में नहीं आता कि मेरी सास जैसी उग्र स्वभाव की स्त्री पर उसका मन्त्र कैसे चल गया। पिया जैसी स्नेही-स्वभाव की लड़की देखने को कहाँ मिलती है मामी ? किन्तु मेरी पिया न जाने कौन से अशुभ नक्षत्र में जन्मी कि सुखी न हो सकी। उसके लिए मुझे ज़रा-सी शान्ति नहीं मिलती। रात में सोते से जाग पड़ती हूँ। अन्त तक न जाने क्या होगा, बेचारी सीधी लड़की !'

दीर्घ श्वास के साथ कविता ने कहा—'ठीक कहती हो यमुना, मुझे भी चिन्ता लगी रहती है, उसके जीवन में यदि निशीथ की छाया न पड़ती तो शायद पपीहरा सुखी होती। मैंने तो तुमसे सब कुछ कह दिया है, मेरा जी उसके लिए घबराता रहता है।'

'मैं भी वही सोचती हूँ, यदि निशीथ उसके पथ पर न

आता तो ऐसा न होता। शायद कुछ दिन के बाद पिया उसे भूल जाये। असम्भव कुछ नहीं है मामी! ईश्वर वह दिन दिखावे जिस दिन उसके मुंह पर वास्तविक हँसी देख सकूं।'

'तुम उसे बचपन से जानती हो यमुना, इसे मैं मानती हूँ। मैं तो थोड़े दिन से देख रही हूँ, किन्तु फिर भी मुझे लगता है, नहीं-नहीं, वरन् विश्वास है—प्राण चाहे चला जावे वह निशीथ को भूल नहीं सकती। पिया जैसी लड़कियों की जाति ही निराली है। इस जाति की स्त्रियाँ एकनिष्ठ प्रेम की पुजारिन होती हैं।'

'बात तो ठीक है मामी, किन्तु शायद कभी ऐसा हो जावे।'

'नहीं हो सकता, असम्भव है यमुना! इन दिनों निशीथ ने आना हठात् बन्द क्यों कर दिया?'

'मैं भी यही सोच रही थी। परन्तु उसका न आना अच्छा है।'

'जरूर।'

'किसी की चर्चा करते बड़ा अच्छा लगता है। है न काकू? और दीदी, तुम क्या कहती हो?'

'तू कब से खड़ी है?'—वे दोनों मुस्कराईं।

'चाहे जब से हो। कौन किसे चाहता है और न आया। इस व्यर्थ की पंचायत में न पड़कर यदि उस काम पर विचारतीं, जिसे हाथ में लिया है, तो शायद तुम दोनों का परिश्रम सार्थक हो जाता। और तब यह मोर ऐसा अद्भुत-दर्शन न होकर दर्शनीय हो जाता।'—इतनी बातें कहनेवाली वह दूसरी नहीं, पपीहरा थी। अपनी बातों में वे दोनों ऐसी लीन थीं कि किसी

तीसरे व्यक्ति का आना जान तक न सकी थीं।

लजीली हँसी से यमुना ने कहा—'छिपकर किसी की बात सुनने में बड़ा मज़ा मिलता है न ! है न पिऊ ?'

'उल्टे मुझी पर लौट पड़ीं दीदी ? छिपकर कहाँ आई ? जाने कब से तुम्हारे पीछे खड़ी हूँ। तुम दोनों बे-सुध थीं। बात भी तो कैसे मज़े की छिड़ी थी न।'

'ये बातें पीछे कर लेना। पहले कहो, मोर ख़राब कहाँ हो गया ? ऐसी अच्छी चीज की भी तू निन्दा करती है ?'—कविता तो उतावली थी।

'ख़राब कैसे हो गया ? अपने-आप उसे बिगाड़ती जाती हैं और पूछती हैं, ख़राब कैसे हो गया। अब तुम्हीं कहो न ऐसे सुन्दर, मार्बल-से सफ़ेद मोर पर यह लाल, हरे सलमे कैसे लग रहे हैं ? बनी-बनाई चीज़ को बिगाड़ दिया। न जाने तुम दोनों की रुचि कैसी है ? स्वाभाविक सौन्दर्य को तुम देखना नहीं जानतीं। नकली तुम्हें पसन्द है।'

डरती-डरती कविता बोली—'तो पंख बैठते कैसे ? उस पर कुछ लगाना था न ?'

'किन्तु उस कुछ की जगह तुमने रंगीन सलमे-सितारे क्यों लगा दिये ? रुपहले लगातीं या सादे पोत ही एक-एक लगा देतीं।'

'तू शिल्प-शास्त्र में पंडित कब से हो गई पगली ?'—स्नेह से यमुना ने कहा।

'लगाकर ही देख लो दीदी !'

'अच्छी बात है। खड़ी क्यों हो, बैठ जाओ न।'

'बैठूँगी नहीं।'

'क्यों, अभी कौन-सा काम है?'

'बाहर जाना है।'

'ऐसी धूप में कहाँ जा रही हो?'

'पिकेटिंग करने।'

'तू जायगी पिकेटिंग करने? सर्वनाश, ऐसी बातें तुझे किसने सुझाई?'—यमुना और कविता उद्विग्न हो रही थीं।

परम सन्तोष से पिया ने कहा—'घबराती क्यों हो? मरने थोड़े ही जा रही हूँ। ऐसी आशा नहीं थी कि तुम दोनों रोकोगी। चुपचाप बैठी-बैठी ऊब गई दीदी।'

'अब समझी। इसी से कई दिनों से तुम बाहर ही बाहर घूमा करती हो। मैं जानूँ यों ही घूम रही हो। इस विचार को छोड़ दो बहन, मेरी पिऊ, कहना मान लो।'—यमुना ने कहा।

नौकर ने आकर कहा—'विधान बाबू बाहर आये हैं।' विधान की आगमन-वार्ता से कविता अनमनी हो गई।

पिया जाने को हुई।

कविता ने उसे रोक लिया—'सुनो तो पिया!'

पिया लौटी और उसके निकट बैठ गई। बोली—'जल्दी कहो काकू, मुझे देर हो रही है।'

'कहती थी इन्हीं महाशय की बात। ऐसा खराब व्यक्ति शायद ही हो। स्त्रियों को वह खेल की गुड़िया समझता है। जी चाहा खेल लिया और जी न चाहा तो उन्हें तोड़-मरोड़-कर पथ की धूल में फेंक दिया। तुम्हें सावधान कर रही हूँ पिया। उसके साथ न मिलना अच्छा है।'

पिया हँसी तो ऐसी हँसी कि हँसते-हँसते उसकी आँखों में पानी भर आया।

'मुझे उनसे डरकर चलना है ?'—पिया ने कहा।

कविता खिसियाई—'सब बातों में हँसी। जा, मैं नहीं जानती, जो कुछ तेरे जी में आवे सो कर।'

'तो मर्द से डरना सीखूँ ? उसके साथ बाहर न जाऊँ और वह भी भय से ? याने अपने मन की कमज़ोरी से किन्तु मुझसे तो ऐसा नहीं बन सकेगा मेरी काकू। अपने को मैं किसी से छोटा कैसे समझूँ ? अपने-आपका अपमान करूँ, सन्देह करूँ—अपने साहस पर ? नहीं-नहीं, यह सब कुछ मुझसे नहीं बन सकेगा। जिस दिन अपने से डरूँगी, अपने ऊपर सन्देह करूँगी, क्या उसके बाद भी तेरी पिया पृथ्वी पर रह सकेगी ? तुम उदास क्यों होती हो ? शंका किस बात की है ? यदि तुम्हारी पिया अपने नारी-सम्मान की रक्षा न कर सकती, तो वह बाहरी जगत् को अपनाती ही क्यों ? इस ज़रा-सी बात को क्यों नहीं समझती हो ? वह लम्पट है, चरित्रहीन है तो अपने लिए है, मेरे लिए नहीं। यदि हम गणिका होकर बाहर जाना चाहती हैं तो वहाँ एक विधान बाबू नहीं, वरन् सहस्र विधान बाबू की लम्पट मूर्तियाँ हमें मिल जायेंगी, किन्तु यदि हम कल्याणमयी माता, बहन की मूर्ति में बाहर जाती हैं तो वहाँ वास्तविक भ्रातृस्नेह का अभाव भी नहीं हो सकता है। काकू, दुनिया में यदि राक्षस का जन्म हुआ करता है तो देवता का भी अभाव नहीं है। और सबसे बड़ी बात यह है काकू, कि पशु का हृदय भी भ्रातृस्नेह से खाली नहीं हो सकता है,

यदि पशुत्व उसका कभी जागता है, तो भ्रातृ-स्नेह भी कभी जाग उठता है। अच्छा मैं जाती हूँ। तुम घबराना नहीं दीदी, शायद दो घण्टे में लौटूँ।'

सुकान्त के निकट चली गई पिया और कहने लगी—'काका, मैं पिकेटिंग करने जा रही हूँ।'

सुकान्त चौंके, शंका, उद्वेग से हृदय पूर्ण हो गया, किन्तु फिर भी शान्त स्वर से बोले—'अच्छा बिटिया।'

'तुमने निषेध न किया ?'—विस्मय से पपीहरा ने पूछा।

'तुम्हारे 'प्रिन्सपल', इच्छा के विरुद्ध तो मैं कभी कुछ करना नहीं चाहता पिया। मनुष्य-मात्र में जो एक स्वाधीन इच्छा होती है, उसमें बाधा देते मेरी आत्मा संकुचित होती है बेटी, नहीं, मैं ऐसा नहीं कर सकता।'

पिया काका के कंठ से लिपट गई—'मेरे काका ऐसे हैं, ऐसे—ऐसे। उनका स्थान, मेरे काका का स्थान दुनिया में किस जगह पर है सो मैं जानती तो ज़रूर थी, किन्तु इसकी ख़बर मुझे नहीं थी कि वह एक देवता भी हैं।'

पिया निकलकर भाग गई और सुकान्त ने जल्दी से बहते हुए आँसुओं को पोछ लिया। क्यों ? कदाचित् उस आँसू का इतिहास छिपाना चाहते हों, दुनिया से।

: २५ :

शीत की एक धूसर अवेला में बड़े बाजार की उस विख्यात और बृहत् विलायती कपड़े की दूकान के सामने भीड़ लगी हुई थी। स्त्रियाँ 'पिकेटिंग' कर रही थीं। किन्तु उस दिन के 'पिकेटिंग' का विशेषत्व थी साहब सुकान्त की भतीजी; पाश्चात्य भावापन्न स्वयं पपीहरा।

साधारण वस्त्र पहने वह स्त्रियों के साथ दूकान के सामने धरना दिये बैठी थी।

कुछ ग्राहक उस तरुणी के अनुरोध से और कुछ सुकान्त साहब के लिहाज से, एवं कोई अपने अन्तःकरण की प्रेरणा से लौट रहे थे।

दर्शक एक कौतुक से खड़े देख रहे थे।

अँधेरी ने पृथ्वी पर अपने अन्धकार-रूप को फैला दिया। दूसरा जत्था स्वयंसेविका नारियों का पहुँच गया और पहले की स्त्रियाँ जाने को हुईं। पिया ने रूमाल से अपना मुँह पोंछा, जाने के लिए खड़ी हो गई। ऐसे ही समय निशीथ की कार, राशिक्रीत विदेशी वस्त्र लादे दूकान के सामने पहुँच गई।

निशीथ की साली का विवाह था। श्वसुर ने वस्त्र ख़रीदने का भार दामाद पर दे रखा था।

मोटर पर था निशीथ और थी उसकी पत्नी मृणालिनी, दोपहर से वे दोनों वस्त्र ख़रीदते फिर रहे थे। गाड़ी रुकी तो पति-पत्नी दोनों उतरे, स्वयंसेविकाएँ सामने अड़ गईं। मधुर हँसी से पिया खड़ी हो गई। निशीथ ने अच्छी तरह से देखा,

अवाक् विस्मय से पूछा—'तुम पिया !'

'मैं ही तो हूँ।'

'कर क्या रही हो, पिकेटिंग ?'

'हाँ वही। लौट जाइए। यहाँ की सब चीजें विलायती हैं।'

किन्तु स्तम्भित निशीथ ने लौटने की चेष्टा-मात्र नहीं की।

झुँझलाकर पिया बोली—'सुन रहे हैं न आप? आप यदि स्त्रियों को कुचलकर जाना चाहते हैं तो दूकान में चले जाइए। वरना लौट जाइए !'

पुलीस सुपरिण्टेण्डेण्ट निशीथ की कार को रुकते देखकर भीड़ और भी बढ़ने लगी। दर्शकों में कुछ तो मजा देखने वाले थे और कुछ थे यथार्थ सहानुभूति रखने वाले।

कान्स्टेबल रूल लेकर दौड़े आये, पुलीस साहब के लिए जगह करनी थी न।

कुछ देर अपेक्षा के बाद पिया फिर बोली—'चुप क्यों हैं मिस्टर घोषल, जब कि स्त्रियों के हृदय पर से आप जा नहीं सकेंगे तो लौट जाइए।'

निशीथ की तन्द्रा टूट-सी गई। पहले उसने जनता की ओर देखा, फिर पिया की ओर, और बोला—'जा रहा हूँ, और तुम ?'

पिया मुस्कराई—'मैं तो यहाँ से जाने के लिए नहीं आई घोषाल !'

एक हेड कान्स्टेबल को पुकारकर निशीथ धीरे से कुछ बोला। दूसरे पल पुलीस के सदय व्यवहार से जनता समझ

गई—घोषाल साहब ने निर्यातन करने से पुलीस को रोक दिया है ।

निशीथ कार पर लौट गया ।

पति के बर्ताव में और उस पिया नाम की लड़की की बातचीत में क्या था सो कौन जाने, परन्तु मृणाल का जी जाने कैसा कर उठा; कैसा कर उठा । उसे उन दोनों का बर्ताव अच्छा न लगा—बिल्कुल नहीं । जाने उसके मन में अपमान के कैसे-कैसे काले, झटिकापूर्ण बादल मंडराने लगे । पहली बात तो यह है कि वह एक उच्च-पदस्थ पुलीस-कर्मचारी की स्त्री है, आई है पति के साथ कपड़े खरीदने और अपने ही देश की एक साधारण स्त्री के निकट पराजित होकर उसे लौट जाना पड़ेगा ? किन्तु क्यों ? मृणाल विचारने लगी—न दूसरे, न तीसरे देश में जन्म है, नहीं, वरन् भारत की उसी मिट्टी में दोनों का जन्म हुआ है । एक नारी अपनी पूर्ण शक्ति से अकड़ी खड़ी है, एक अपनी जैसी भारत-नारी को पराजित करने के लिए और फिर किस लिए ? उसी मिट्टी का सम्मान रखने के लिए । भारत की गोद में पली हुई एक नारी को उसी गोद का अपमान करते देखकर वह गर्व से अकड़ी खड़ी है, उस गोद की रक्षा के लिए । खड़ी है और खड़ी ही रहेगी—जन्म-जन्मान्तर और युग-युगान्तर । ये बातें मृणाल पल-पल में विचार गई और विचारती ही रही । उसकी पराजय से शायद पिया मुँह फेरकर जरा-सा मुस्करा देगी । शायद अवहेलना से उसे एक बार देख लेगी; या तो सखी-सहेलियों में उसकी हँसी उड़ावेगी, कहेगी—आई थीं, पुलीस-अफ़सर के घमण्ड में

भूलीं। तो कर लिया कुछ ? लौट गईं न अपना-सा मुँह लेकर। मृणाल की चिन्ता पति की ओर लौटी, और वह ? उन पर उसने कौन-सी मोहिनी फूँक दी ? उन जैसे कर्तव्य-निष्ठ व्यक्ति पर उसने कैसा जादू कर दिया ? वह अपना कर्त्तव्य भूले क्यों, किस लिए और किसके लिहाज से ? उन्होंने आज किसके सम्मान की रक्षा के लिए अपना कर्तव्य विसर्जन कर दिया ? न मातृ-भूमि के लिए, न और किसी के लिए। बस उसी एक माधवी-लता-सी लचकती नारी के लिए। वह उनकी परिचिता अवश्य है। किन्तु कभी भूलकर भी तो इस स्त्री का प्रसंग उन्होंने नहीं किया ? ऐसा क्यों ? यह कौन-सी ऐसी छिपाने की बात थी ? इतना विचारने को तो मृणाल विचार गई और इस विचार का परिणाम निकला उल्टा। पति से मृणाल बोली—'कपड़े लिये बिना मैं घर न लौटूँगी और उसी दूकान से लूँगी।

मृणाल को दूकान की ओर लौटते देखकर दूसरी स्त्रियों के साथ पपीहरा धरती में लेट रही।

निशीथ दौड़ा-दौड़ा आया। पत्नी से अनुनय-पूर्वक बोला—'चलो मृणाल, लौट चलें।'

किंकर्तव्य-विमूढ़ मृणाल लौटी तो सीधे मोटर में बैठ गई।

किसी ने पिया के कान में कुछ कहा। पिया झपटी चली आई निशीथ के आगे—'आप भी अच्छे हैं। उन विलायती कपड़ों के बोझ को तो हलका करते जाइए! उस बोझ से गाड़ी भारी हो रही है।'

उत्तर दिया निशीथ ने नहीं, मृणाल ने, तीव्र स्वर से वह बोली—'बस, यथेष्ट हो चुका है। ऐसे दामी कपड़े भीख नहीं दिये जाते हैं।'

पिया मुस्कराई—'भीख ? हाँ, मैं भीख ही तो माँग रही हूँ बहन ! अपनी बहन से आज विलायती कपड़ों की भीख माँग रही हूँ और आगे कभी विलायती वस्त्र न लेने का वरदान भी।'

प्रबल वितृष्णा से मृणाल ने मुँह फेर लिया।

पिया वैसे ही मुस्कराने लगी—'कहिए घोषाल, आप भी क्या भीख देने से मुँह फेरेंगे ?'

'पूछता हूँ इससे लाभ क्या होगा पिया ? जिस काम को आज मैं अनिच्छा से करूँगा, उसका परिणाम भविष्य में मधुर होने की आशा न तुम ही कर सकती हो और न मैं ही। अभी-अभी जिस विदेशी वस्त्र को मैं दे जाऊँगा और फिर भी उस विदेशी वस्त्र को मैं खरीदूँगा नहीं, ऐसा कौन कह सकता है ? उस वक्त मुझे रोकेगा कौन पिया ?'

'रोकेगा कौन ? रोकेगा वही मनुष्यत्व, जो कि आज के इस देने और लेने के भीतर मुस्करा रहा है, कौतुक देख-देख कर हँस रहा है। समझे न घोषाल ? वही तुम्हें रोकता रहेगा। अच्छा तो…'

बात की समाप्ति के साथ-ही-साथ पिया अनायास उन बहु-मूल्य वस्त्रों को घसीट-घसीटकर बाहर फेंकने लगी। एक मूर्ति की भाँति निशीथ खड़ा देखने लगा।

जनता के नेत्र में था एक अखण्ड विस्मय। पुलीस थी स्तब्ध, हतवाक्, एवं मृणाल के नेत्र में थी अपरिसीम व्यथा,

क्रोध। किन्तु इन सबके भीतर पिया आबद्ध नहीं थी। वह तो अपने काम में मस्त थी, रीझी-सी।

कार्य शेष कर पिया ने विदा-सम्भाषण किया—'नमस्कार! अब आप दोनों आराम से घर चले जाइए, गाड़ी भी हल्की हो रही है। दो मिनट में घर पहुँच जायँगे।'

घर लौटकर मृणाल ने पूछा—'वह स्त्री तुम्हारी कौन है ?'

'छिः मृणाल!'—आहत निशीथ बोल उठा—'छिः मृणाल, क्या कह रही हो!'

मृणाल झुँझलाई—'जानती हूँ पूछने से तुम चिढ़ोगे, किन्तु दुनिया के सामने जिसके सम्मान की रक्षा के लिए आज तुम अपनी पत्नी का अपमान कर सके, उस स्त्री का यदि मैं परिचय जानना चाहूँ तो इसमें 'छिः' का स्थान बिल्कुल नहीं है।'

'दिन-पर-दिन तुम्हारा मन संदिग्ध होता जाता है, नहीं तो एक भद्र नारी के लिए तुम ऐसे गन्दे शब्द उच्चारण नहीं कर सकतीं मृणाल!'

किन्तु इसके बाद भी मृणाल पूछ बैठी—'उसे तुम पहचानते हो ?'

'हाँ।'

'घर में कभी उसकी चर्चा क्यों न की ?'

'ज़रूरत नहीं पड़ी। वह सुकान्त बाबू की भतीजी पपीहरा देवी हैं।'

'यही है पपीहरा! मर्दों के कान काटनेवाली डकैत पपीहरा! इसकी बातें मैंने बहुत सुनी हैं।'

'हो सकता है।'

'यह बात ऐसी है। और तभी पराई स्त्री के लिए घर की स्त्री का अपमान करना सम्भव हो सका है। पपीहरा है यह —पिया की बोली बोलनेवाली—प्यासी पपीहरा।'

बड़े आदर से निशीथ ने पत्नी को अपनी बाँह में खींच लिया—'आज तुम यह सब क्या ढूँढ़ती फिर रही हो मृणाल ? कभी तुम्हारा अपमान किया है मैंने कि आज ही करता ?'

आँसू बहाती मृणाल बोली—'यदि कभी करते तो शायद हठात् ऐसा वज्राघात मेरे हृदय में न हो पाता। क्यों—क्यों तुमने मेरे कपड़े उसे दे दिये ? क्यों तुमने दुनिया के सामने मुझे उससे छोटा कर दिया ?'

'बिल्कुल ग़लत। वह माँग उसकी नहीं, देश की थी और इसी देश के लिये आज राजरानी पिया भिखारिनी बनी थी मृणाल ! अच्छा जाने दो इस बात को, अभी नहीं समझ सकोगी। चलो मैं तुम्हें उससे भी अच्छे कपड़े खरीद दूं।'—घबराया-सा निशीथ जल्दी-जल्दी कह गया।

मोटर पर दोनों बैठे और घण्टे भर के बाद राशिक्रीत कपड़े लिये घर लौटे।

डाक की चिट्ठियाँ निशीथ खोल रहा था, कुछ दूर बैठी मृणाल पति के लिए नेकटाई बुन रही थी, रेशम का गोला उसकी गोद पर पड़ा हुआ था, उँगलियों से क्रुसिया चल रही थी।

तीन लिफ़ाफ़े के बाद चौथे बार बारी आई एक मूल्यवान् लिफ़ाफ़े की। उसे खोला तो निशीथ के सामने एक दो लाइन

का पत्र निकल आया, उसमें लिखा था—'कृपया बाहर ज़रा सावधानी से जाया करें।' बस लिखा इतना ही था, न किसी का नाम था, न कुछ सम्बोधन, तो भी निशीथ को लगा, सतर्क करने वाली यह कोई स्त्री है और वह स्त्री दूसरी नहीं, पिया है।

'वाह, बड़ा अच्छा काग़ज़ है, किसका पत्र है ?' मृणाल ने पूछा। निशीथ चौंका। जल्दी से पत्र फाड़कर फेंक दिया।

'क्यों, बात क्या है ? फाड़ क्यों डाला, ऐसी कौन-सी बात उसमें थी ?'—विस्मय से मृणाल ने पूछा।

'कुछ नहीं।'—कहकर निशीथ उठ गया।

मृणाल ने चहुँ ओर देखा, फिर टुकड़ों को बीनकर कमरे में चली गई। द्वार भीतर से बन्द कर लिया। उन टुकड़ों को जोड़कर पढ़ने की चेष्टा करने लगी। कुछ पढ़ सकी—'सावधानी से जाया करें।' भ्रू कुँचित हुए। 'जाया' को उसने बना लिया 'आया' करें। विचारा उसने, बस बात यही है। याने सावधान होकर आया करो। कहीं कोई देख न ले। इस लाइन को उसने अपने आप जोड़ दिया।

स्त्री का लेख है न ? मन ने साक्षी दी—है, है, ज़रूर है, है स्त्री का लेख, और उसी पिया नाम की लड़की का है। इसके बाद मृणाल ने अपनी राय पक्की कर ली। किस बात की ? —उसी पति के साथ-साथ रहने वाली बात की। सीधी-सी तो बात है। जब वह बाहर जावें तो वह भी साथ हो ले, और बस।

: २६ :

मीठी धूप शीत के यौवन को उत्तप्त कर रही थी। मुट्ठी-भर धूप में पड़ी हरमोहिनी परम सन्तोष से पपीहरा की बातें सुन रही थीं।

कब और कौन से दिन उन दोनों के बीच वाली उस प्रबल विरक्ति के स्थान में स्नेह का कलेवर पुष्ट हो गया था, इसकी खबर उन दोनों को थी नहीं। दालान में दरी बिछी थी, उस पर लेटी थी हरमोहिनी, उनकी गोद के निकट बैठी थी पिया। आँगन के केले के वृक्षों से छनती हुई मुट्ठी-भर धूप निकली चली आ रही थी। धूप-छाँह में गौरइया नाच-नाचकर पंख सेंक रही थीं। डाल पर की मैना झपकियाँ ले रही थी। पिंजड़े में लटकते हुए तोते सीटी बजाना भूलकर उन स्वाधीन जीवों की अनमोल खुशी को निहार रहे थे। दीर्घ श्वास की गहराई में उनके गान डूब मरे थे।

जाने कौन-सी बात चल रही थी कि हरमोहिनी भीत स्वर से बोलीं—'तू ऐसी बातों में मत जाया कर।'

'क्यों अम्माजी ?'—एक कौतुक था पिया के मुँह पर।

'तुम्हें भी किसी दिन पुलीस जेल में भर देगी।'

'हानि क्या है ? एक नई चीज से पहचान हो जायगी। जी चाहता है माँ, कि चली जाऊँ जेल।'

'अरी पगली, भले घर की स्त्रियाँ वहाँ कैसे जा सकती हैं ?'

हँसी गोपन कर पपीहरा ने कहा—'जाने कितनी भद्र-कुल-लक्ष्मी जा रही हैं। और तुम्हारी पिया के जाने से महाभारत

अशुद्ध हो जायगा। यदि किसी चीज़ को हमें समझना है—उसके अन्तस्तल में प्रवेश करना है तो बाहर से नहीं, वरन् उसके रग-रग में हमें भी घुल-मिल जाना चाहिए।'

'तू लड़की है, जाने क्या। जेल में कहीं भले घर की लड़की जा सकती है? नहीं-नहीं, ये बातें किसी ने तुमसे झूठ कह दी होंगी।'

पपीहरा खिलखिला पड़ी।

बाहर से काका ने पुकारा तो वह चली गई और हरमोहिनी रह गईं अकेली। उनकी चिन्ता की धारा धीरे-धीरे पिया की ओर से लौटी तो कविता पर सीधी चली गई। हरमोहिनी उठकर कविता की ओर चली गईं।

'तुम क्यों आई माँ? मुझे बुला लेतीं।'—कविता ने कहा।

'तू तो सामने आती ही नहीं। चली आई, क्या करती, माँ की आत्मा बुरी होती है।'

'यमुना जल्दी चली जायगी। इससे उसका मोर बना रही थी।'

'इन बातों को अभी रहने दे कवि। मैं तेरी माँ हूँ, दुश्मन नहीं, जो कुछ मैं करूँगी, कहूँगी तेरी भलाई के लिए। समझी?'

अत्यन्त विरक्त मुख से कविता ने कहा—'वही पुरानी बात। तुम जानती नहीं हो माँ, पिया कितनी अच्छी है।'

'अच्छा-अच्छा चुप रह। न जाने तेरा कैसा स्वभाव हो गया है कि हर बातों का उलटा अर्थ लगाने बैठ जाती है। पिया की बात कौन कह रहा है? चाहे वह कैसी भी दुर्दान्त हो, बेशर्म हो, फिर भी वह अच्छी है, मुझे चाहती है।'

'क्या कह रही हो ?'—आश्चर्य में थी कविता।

'बच्ची मत बनो कविता। आँख रहते अन्धी बनती है ? क्या माँ को सब बातें करनी पड़ेंगी ?'

'मैं समझती नहीं अम्मा !'

'फिर भी वही बात।'

'सच, नहीं समझी।'

'बच्ची है न। क्या समझे। अभी हुआ क्या है ? किससे क्या कहूँ, मैं स्वयं हैरान हूँ ऐसा अन्धेर भी न देखा था। कलियुग में विवाहित स्त्री दासी बनकर रहती है और साली बन जाती है राजरानी। क्या कुछ समझती नहीं है ?'

कविता चुपचाप अपना नाखून उकसाने लगी।

'अभी भी समय है, सोच समझकर चलो, मैं क्या जानती थी कि मेरे पेट में ऐसी कुलक्षणी जन्मेगी ! मेरे जीते जी तू समझ ले बेटी। पति से तू बात तक नहीं करती। यह कैसी बात है ? वह मर्द है, तू औरत है। उसे ज़रा अपनाना भी तो सीखो।'

कविता चुपचाप वहाँ से चली गई।

अब हरमोहिनी का धीरज जाता रहा। चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगीं—ऐसा घमंड ? माँ की दो बातें तुझे सुनने की फुरसत नहीं ? जो जी में आवे करो, मुझे क्या। किसी तीरथ में जाकर रहूँगी। शाम-सबेरे विश्वनाथ जी का दर्शन करूँगी और मुट्ठी भर चना चबा लूँगी। माँ की ऐसी अवहेलना ? मैं इधर मर रही हूँ कविता-कविता कहकर, उधर लड़की मुझे फूटी आँखों नहीं देखती। जा चूल्हे में, मुझे क्या करना है। तेरे

भाग्य में यदि दासी-वृत्ति लिखी है तो मैं करती क्या। हजार मैंने तुझे राजरानी बनाना चाहा, किन्तु बनी तो वही नौकरानी न? भाग्य कहाँ जायगा।

कविता आकर फिर से सामने बैठ गई—'तुम मुझे क्या करने को कहती हो माँ?'

गृहिणी सहमीं। नरम होकर पूछने लगीं—'क्या तू अन्धी है?'

'नहीं। और मैं भी पूछती हूँ, इसके लिए मैं क्या करूँ?'

'नीलिमा को किसी तीरथ में भेज दे।'

कविता मलिन हँसी—'ऐसा मैं करूँ क्यों?'

'क्योंकि तेरा पति पराया होने जा रहा है।'

यमुना सामने आ गई। उसकी ओर देखकर हरमोहिनी ने कहा—'तू इसे समझा बेटी। हाय, मैं क्या करूँ। यह दोनों मेरी ही सन्तान हैं।'—वह सिसक-सिसककर रोने लगीं—'मेरा सर्वनाश हो गया यमुना। मैं कहीं की न रही।'

किन्तु यमुना उस व्यथा में थोड़े-से सान्त्वना के शब्द भी उच्चारण न कर सकी। केवल स्तब्ध व्यथा से माता की उन लज्जा, व्यथा और दुःख के आँसुओं को देखने लगी।

'चिल्लाओ नहीं माँ, नौकर सुनेंगे।'—नतमस्तक कविता ने कहा।

'तू समझती है, नौकरों से बात छिपी हुई है?'

'कदाचित् ऐसा न हो। परन्तु जोर-जबरदस्ती मैं किसी से नहीं कर सकती। मैं जो कुछ हूँ इतना मेरे लिए बहुत है। और न मैं किसी के अधिकार को ही छीन सकती हूँ।'

'अधिकार कैसा, किसका अधिकार ?'—हरमोहिनी ने पूछा।

'दीदी इस घर की गृहिणी हैं। उनका अधिकार मैं नहीं छीन सकती, न कहीं उन्हें भेज सकती हूँ।'

'उस हरामज़ादी को ऐसा अधिकार किसने दिया ? मैं कहती हूँ, इस घर में उसका रत्ती भर भी अधिकार नहीं है। कुलटा कहीं की। मेरा धर्म-कर्म सब बिगाड़ दिया। मेरे पति के कुल में कलंक लगाया।'

'दीदी निर्दोष हैं। उन्हें गाली मत दो माँ ! इस घर के प्रभु ने उन्हें गृहिणी का अधिकार दिया है। उस अधिकार को छीनने की शक्ति स्वयं घर के मालिक को नहीं है, फिर हमारी कौन कहे। अच्छा मैं जा रही हूँ, आओ यमुना। मोर थोड़ा-सा बाकी है।'

चार बजे सुकान्त का परिवार चाय के टेबुल पर जमा हुआ था। गरम-गरम चाय प्यालों में डालती हुई पपीहरा कह रही थी—'आलोक बाबू, आपकी चाय में चीनी कम पड़ेगी न ?'

'चाय मैं नहीं पिऊँगा पिया देवी ?'

'क्यों, बैठिए न !'

'आज जल्दी है।'

'कहीं पार्टी में जाना होगा।'

'नहीं। आया था केवल उस बेईमान विधान की खोज में।'

'विधान बाबू की खोज में ?'

'हाँ-हाँ, उसी बेईमान के लिए आया हूँ, यदि आप उसका पता जानती हों तो कह दीजिए।'

'कोई चार दिन पहले वह मेरे साथ पिकेटिंग करने गये थे। बस उस दिन से आये नहीं।'

'और अब वह आयेगा भी नहीं।'—आलोक ने कहा।

'नहीं आयेंगे ?'

'नहीं—नहीं, वह भाग गया।'

'भाग गया ? मैं समझी नहीं आलोक बाबू।'

'उस जैसा धूर्त शहर में दूसरा नहीं। मेरी बहन को आप जानती हैं न ?'

'प्रतिभा को जानती हूँ। थर्ड ईयर में है।'

'हाँ प्रतिभा। उससे विवाह का अङ्गीकार कर और—और मेरा सर्वनाश कर वह भाग गया। अब उससे कौन शादी करेगा ?'

'प्रतारक, पापी, नीच कहीं का। ऐसी बात ? ऐसों को तो पेड़ से बाँधकर कोड़े लगाये जाएँ तो ठीक हो।'—क्रोध से पिया लाल पड़ गई।

'कोर्टशिप का यह पुरस्कार है पिया, अब चिढ़ने से क्या होता है ? नकल करना है हमें विलायती और फिर वह भी बुरी चीज़ों की। तो फल भोगने आयगा कौन ? अब रोने-धोने से होता क्या है।'—धीरे से विभूति ने कहा।

पपीहरा चुप रह गई। आलोक दाँत पीस कर रह गया। और सुकान्त शव से अकड़ गये—रक्तहीन। विभूति को हँसी आने लगी।

यमुना ने आँचल से आँखें पोछ लीं। उससे वहाँ बैठा नहीं जा रहा था। केवल कविता का पता न चला कि इस वार्ता ने

उसके मन को किस ओर झुकाया। फिर पता चलता भी कैसे, वह वहाँ थी ही नहीं न। एक कोने के कमरे में बैठी निविष्ट-चित्त से मोर के पंख पर सफेद सलमे के टुकड़े टाँक रही थी और उस मोर के सौन्दर्य में स्वयं मस्त हो रही थी। दुनिया की बातों से उसे संबन्ध ?

: २७ :

बृहद् मैदान में उच्च मंच बनाया गया था। पुराने वृक्षों पर बिजली के बल्ब जल रहे थे।

कई देश-नायकों के साथ पपीहरा मंच पर खड़ी भाषण दे रही थी।

भीड़ थी रन्ध्रहीन और उस भाषण में थी ओजस्विता, हृदय की एकाग्रता। श्रोता थे कुछ चंचल, किन्तु नीरव।

पुलीस ने घोषणा की—भाषण आपत्तिजनक है, उसे रोक दिया जावे।

परन्तु पिया का भाषण न रुका, वह और भी तेजस्विता से कहती गई।

पुलीस जनता को भगाने लगी। विशृंखलता पैदा हो गई। मार-पीट होने लगी। फोन पर फोन पुलीस आफिस में दिये जाने लगे।

शीघ्र ही निशीथ की कार घटना-स्थल पर उपस्थित हुई। गाड़ी में बैठे-बैठे निशीथ ने पिया को देख लिया था। और

यद्यपि उस दिन मृणाल ने दस-पाँच मिनट पिया को देखा था, तो भी वह उसे पहचान गई। वह भी पति के साथ कार में बैठी थी न। पति के साथ वह आई थी कि मुझे सुधीरा बहन के घर जाना है।

निशीथ उतरकर कहता गया—'तुम गाड़ी लेकर जाओ। सुधीरा के घर पहुँचकर गाड़ी भेज देना। यहाँ रुको नहीं। जल्दी जाओ।'

मृणाल मन-ही-मन मुस्कराने लगी—क्या कहीं जाने के लिए वह यहाँ आई थी ?

निशीथ चिल्लाकर कान्स्टेबल से बोला—'स्त्रियों पर अत्याचार न हो।'

शब्द पिया के कान तक पहुँच गये। तब उसे मंच से उतार लिया गया था और उसे बाहर करने की चेष्टा हो रही थी।

उस बात को सुनकर पिया का मन निशीथ के प्रति श्रद्धा से भर उठा। किन्तु फिर भी निशीथ को अपने निकट से जाते देखकर वह व्यंग करने से पीछे न हटी—'और निर्दोष बच्चों को, मर्दों को पैर तले कुचल डालो! देखिये आपके वाक्य को मैंने किस सुन्दरता से पूरा कर दिया।'—धीरे से पिया बोली।

निशीथ ने व्यंग-कारिणी को देखा। पपीहरा मुस्करा पड़ी, मुस्करा पड़ी, कुमकुम की डिबिया-सी, सिंदूर की बिन्दी-सी मोहिनी पपीहरा।

उसकी वह हलकी-सी हँसी मृणाल की दृष्टि में अपराध

को सृष्टि कर बैठो। गाड़ो पर बैठो वह उसी ओर निहार रही थी।

सब-इन्स्पेक्टर ने निशीथ से धीरे-धीरे कुछ कहा। एक विस्मय, एक अचंभे की दृष्टि से इन्स्पेक्टर ने एक बार प्रभु की ओर देखा और फिर चुपचाप चल दिया। जब टैक्सी पर पुलीस पिया को घर तक पहुँचाने आई तब पिया के आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा।

जनता छत्रभंग हो चुकी थी। निशीथ लौटने को था, सहसा पिस्तौल की गोली उसके कान के पास से सनसनाती निकल गई। वहीं निशोथ बैठ गया। उसे वह छोटा पत्र स्मरण हो आया, जिसमें उसे सावधान किया गया था। पल-भर में एक बात उसके सर में झाँक गई—कैसी अनोखी लड़की है यह पिया! अभी दो दिन पहले जिसकी अमंगल आशंका से उत्कंठित होकर वह उसे सावधान करने लग गई थी, अभी-अभी विना कारण उसे व्यंग, परिहास से विद्ध करने में भी इतस्ततः न कर सकी।

निशीथ लौटा। जनता तब चल चुकी थी। गोली चलाने वाले की खोज में पुलिस लगी थी।

'तुम अभी गई क्यों नहीं मृणाल! यहाँ बैठी क्या कर रही हो?' गाड़ी पर बैठकर विरक्ति से निशीथ ने पूछा।

'पिया तो जेल भेजी गई है न? जाते-जाते वह तुमसे क्या बोली?'

'पूछ रही थी—मृणाल बहन भी मुझे पकड़ने आई या नहीं?'

'वह भला मुझे क्यों पूछने लगी ?'—रूठ कर मृणाल ने कहा।

'जैसा समझो तुम।'

'हँसी उड़ाते हो मेरी तो उड़ाया करो। परन्तु मैं जो हूँ वही रहूँगी।'

'बस, इतना ही तो तुम सोच नहीं सकती हो मृणाल ! जिस दिन ऐसा विचार लोगी उस दिन तुम-सी सुखी दूसरी न रहेगी और उस दिन पति-प्रेम की सत्ता की कोई दूसरी अधिकारिणी ऐसे सहज में न ढूँढ़ निकाल सकोगी। और न पति की हर बात को सन्देह की दृष्टि से देख सकोगी। वरन् उस दिन तुम नीच सन्देह के स्थान पर जो कुछ पाओगी उसे हम कल्याण कह सकते हैं। तब पति के इष्ट-अनिष्ट को तुम अनायास देख सकोगी। और उस दिन किसी स्त्री से मिथ्या ईर्ष्या से अधिक महत्व रखेगा तुम्हारी दृष्टि में पति की प्राण-रक्षा। गोली से पति को बचते देखकर ईश्वर से कृतज्ञता प्रकाश करना सीखोगी, इतना मैं तुमसे ज़ोर के साथ कह सकता हूँ मृणाल !'

अत्यन्त लज्जा से मृणाल की आखें झुक गईं।

पिया घर पहुँची तो घर-का-घर शोक से आच्छन्न-सा हो रहा था।

सुकान्त ने उसे हृदय से लगा लिया। यमुना, कविता आँखें पोंछने लगीं और विभूति आनन्द-विभोर स्वर से कहने लगा—'तू आ गई पिया ! कैसे आई, मैंने तो देखा था लारी पर पुलीस तुझे लिए जा रही है। भागा-भागा मैं घर आया कि

मामाजी से कहकर कुछ व्यवस्था करूँ। कैसे आई, उन्होंने तुम्हें छोड़ कैसे दिया ?'

'छोड़ते नहीं तो क्या करते, वरना तुम सब-के-सब अपना सिर न पीट लेते। काका, तुम भी ऐसे हो ?'

'अब चाहे तू अपने काका को कुछ भी समझ पिया, सच बात तो यह है कि मैं सब कुछ सह सकता हूँ, कर सकता हूँ। केवल एक बात नहीं सह सकता। अपनी पिया मैया के बिना मैं रह नहीं सकता हूँ।'

प्रेम से पिया काका के गले से देर तक लिपटी रही।

'चलो बेटी, भोजन करने। सब घर उपवासी है।'

'अरे काकू, तुम पीछे क्यों खड़ी हो ? रो रही हो ? अरे तुम सबने मिलकर यह कैसा स्वाँग मचा रखा है ? रोती क्यों हो, क्या मैं मर गई ?'

'ऐसा मत कहो पपीहरा ! तुम्हारे बिना मैं रहूँगी कैसे ? मेरा और है ही कौन ?'

कविता की बात छोटी और सीधी थी, किन्तु उसमें जो एक नारी-अन्तर का आर्त, बुभुक्षित चीत्कार था, उस चीत्कार ने घर के सब प्राणियों को कुछ देर के लिए मूक बना दिया।

बात मुँह से निकल जाने के बाद उन कहे हुए शब्दों के लिए कविता पछताने लगी, अपनी दुर्बलता में पिसकर आज वह यह कौन-सा अनर्थ कर बैठी ? विशेषकर पति के सामने। जिस भिक्षा की झोली को वह माता की तरह आदर-सम्मान से सँभाले फिर रही थी, जिस झोली को सँभालते-सँभालते उसके यौवन के अनमोल पल गहरी निस्तब्धता के भीतर कटे जा रहे

थे, और आज अनायास वह उस भिक्षा की झोली को पसार कर दुनिया के सामने खड़ी हो गई, कहने लगी—मेरी भीख की झोली भर दो दाता !—कविता अपने-आप प्रश्न करने लगी—जीवन की ऐसी अवेला में क्या ज़रूरत थी इसकी ? दिन जब कट चुके थे, अभिसार की गहरी रातें जब शान्त एकान्त में कट चुकी थीं, तो इस परिहास की कोन-सी ज़रूरत आन पड़ी ? यदि संसार के सामने उसने रानी का मुकुट पहन लिया था, तो भिक्षा की झोली क्यों पसार कर बैठी ? उस झोली के पसारने के पहले वह मर क्यों न गई ? यदि मौत न आना चाहती थी तो आत्महत्या तो कहीं भाग न गई थी ।

लज्जा से वहीं जो कविता ने सिर नीचा कर लिया, फिर सिर उठाने का नाम न लिया ।

पपीहरा बोली—'भोजन ठण्डा हो रहा है काका, चलो ।'

सब टेबुल पर बैठे । हँसी-खुशी से भोजन चलने लगा ।

भोजन पर से हाथ खींचकर विमर्ष स्वर से पिया ने कहा —'सुनते हो काका, नीलिमा काकी फिर क़ै कर रही हैं । उस दिन मैंने तुमसे कहा था न ? हाँ, हाँ, कहा था । वह बहुत कमज़ोर होती जा रही हैं । खाना-पीना बिल्कुल बन्द है , और बस दिन-भर क़ै और क़ै ।'

वमन का शब्द वे सब लोग सुन रहे थे ।

सुकान्त चुप रहे ।

पिया कहने लगी—'हम जल्दी जा रही हैं काका !'

'अच्छा ? मैंने कुछ सुना नहीं । कहाँ जा रही हो, कौन-कौन जाओगी ?'

'भूल गये ? उस दिन जब मैंने कहा था, तब हूँ, हूँ, क्यों कर दिया ? हम देवघर जा रही हैं। काकू, मैं, अम्मा, नीलिमा काकी, गुमाश्ताजी और बस। काकू को भी हवा बदलने की ज़रूरत है। देखते नहीं, वह कैसी हो रही हैं।'

'मेरी पिया के रहते हुए मैं क्या देखूँ ?'

'तुमने कुछ नहीं खाया काका, तुम्हें साथ में जाने को नहीं कहा तो नाराज़ हो गये ?'

'हो तो गया।'

'झूठे, देखा आपने जीजा, मेरे काका कैसे झूठे हैं। कहिए न आप, क्या वह हमारे साथ जाते ?'—उसकी बातों से सब हँसने लगे।

'कल दीदी चली जायँगी और हम परसों।'—पिया ने कहा।

'अच्छी बात है।'—सुकान्त ने कहा।

'परन्तु जीजा, तुम, दीदी सब लोग ऐसे उदास क्यों हो गये, भोजन सब पड़ा रह गया ?'—पिया ने कहा।

'खा तो रही हूँ ?'—यमुना ने उत्तर दिया।

सुकान्त जल्दी से चले गये। इसके बाद पपीहरा उठ गई।

: २८ :

किसी बात को कह देना कविता जितना सहज समझे हुए थी, किन्तु कहते समय उसने पाया सहज तो नहीं, उपरान्त एक

प्रकार असाध्य-सा । तो किया उसने इतना कि चुपचाप नीलिमा की चारपाई पकड़कर खड़ी रह गई। और नीलिमा एकदम उठकर बैठ गई, जैसे कि अभी-अभी प्रेत को वह अपने सामने देख रही हो । साथ ही अपने रक्तहीन मुख को छिपाने की चेष्टा से धरती में गड़ने को हो गई ।

अत्यन्त संकोच, द्विधाजड़ित स्वर से कविता ने पुकारकर कहा—'तुमसे कुछ कहना है दीदी ।'

परन्तु जिसके उद्देश्य में ये शब्द कहे गये, जब उसने उत्तर देने के बदले मुँह फेर लिया, तब एक बार फिर से गला साफ करने की ज़रूरत पड़ गई कविता को; खाँस-खखार कर कहने लगी—'तुम माँ बनने चली हो । नहीं, शर्माओ नहीं, शर्माओ नहीं; सुनो मेरी बातें । अस्वीकार करती हो ? बात झूठ है ? मैं कहती हूँ ये बातें कोई विश्वास न करेगा । सब जानते हैं। पहली बात तो यह है—तुम ना करो ही क्यों ? मैं जानती हूँ तुम गर्भवती हो और यह भी कि माँ होते हुए भी तुम अपनी सन्तान वध करने जा रही हो। कहो, सच कह रही हूँ या झूठ ?'

किसी ने उत्तर नहीं दिया तो कविता ने कहना आरम्भ किया—'जो कुछ तुम ने किया है वह तुम्हारी अपनी बात है और उस पर कुछ कहने-सुनने का अधिकार मुझे नहीं है । उस विषय को लेकर तुमसे तर्क करने या तुम्हारी निन्दा करने नहीं आई हूँ; वह तुम्हारी अपनी बात है; किन्तु आज जो कुछ करने जा रही हो, वह बात एक ऐसे की है, जिसके बल पर आज पृथ्वी थमी हुई है ? और नारी का नारीत्व निर्भर है। पृथ्वी के

चहुँओर आँख पसारकर देखो, पाओगी केवल सृष्टि और सृष्टि, धरती सदा सृष्टि में मस्त, व्याकुल रहती है, निद्रा की शान्ति में भी उसकी सृष्टि रुक नहीं पाती। जल के अणु में सृष्टि होती रहती है और ऋतु के तन से सृष्टि फूट निकलती है। ओंकार के अंग से अखिल ब्रह्माण्ड की रचना हो जाती है। ऋषियों के स्तवन से राग-रागिनी की सृष्टि होती है। सृष्टि, अन्तहीन सृष्टि और सृष्टि-पालन के बीच में पृथ्वी, पालन-कारिणी पृथ्वी अपनी सत्ता को बिसरी, कल्याणमयी माता बनी देवी के सिंहासन पर बैठी हुई है। और तुम करने जा रही हो संहार ? वध, सन्तान-वध ? पाप के सिवा और भी है अमिट कलंक, इस माता के नाम का विनाशहीन कलंक, प्रत्येक माता का कलंक, वध के बाद सन्तान अपनी माता का विश्वास नहीं कर सकेगी। अपनी लज्जा ढाँकने के लिए सन्तान-वध मत करो दीदी ! नारी के नाम पर, माता के नाम पर, जननी के नाम पर ऐसा कलंक न लगाओ। मैं पूछती हूँ—इस हत्या के बाद क्या तुम्हीं अपने आपको मुँह दिखला सकोगी ? क्या तुम्हारी आत्मा तुम्हें किसी भी दिन क्षमा कर सकेगी ? नहीं-नहीं, मुँह न छिपाओ, कहो; हत्या तो न करोगी ?'

'मैं दुनिया को कैसे मुँह दिखलाऊँगी ? दुनियाँ मुझे क्या कहेगी ?'

'एक अपराध को ढाँपने के लिए पाप की सृष्टि करोगी ? लज्जा ढाँपने के लिए बच्चे का खून करोगी ? कहो, उत्तर दो।'

'वे ऐसा करने को कहते हैं।'

कविता चुप हो गई, बिल्कुल चुप।

'उन्हें मैं रोकूँ कैसे ?'—नीलिमा ने कहा।

'उनके काम की समालोचना मैं नहीं कर सकती। तुम्हें केवल कह इतना सकती हूँ कि कार्य-मात्र का परिणाम एक रहता है। तो उस कार्य का परिणाम चाहे जैसा निकले, कार्य-कर्ता ही का वह प्राप्य भी है। तुम्हारे काम का परिणाम चाहे जैसा जो कुछ हो वह तुम्हारे सामने है, उसे तो उठा लेना तुम्हीं को पड़ेगा दीदी ! धीरज धरो, डर किस बात का है ? माँ के स्नेह से विचार करो। हम माँ हैं, जननी हैं, घातक का खड्ग हमारे लिए नहीं है। हमारे लिए तो है केवक कल्याण।'

यमुना आकर बैठ गई।

'ऐसा करने के लिए वे हठ करते हैं।'—मूर्च्छातुर-सा नीलिमा का स्वर कमरे की वायु में माथा पीटता फिरने लगा।

'हठ करते हैं ? पति वह तुम्हारे अवश्य हैं।'

कविता के मुंह की बात मुँह में रह गई। दोनों हाथ से मुँह ढाँककर नीलिमा चिल्ला पड़ी—'नहीं-नहीं, ऐसा मत कहो।'

उदास व्यथा से कविता कहने लगी—'अभागिन दीदी, पति नहीं तो वह तुम्हारे कौन हैं ? बाल-विधवा, ग्राम की गोद में पली, जिसने कि कभी मर्द की छाया न रौंदी थी, उसका धर्म नष्ट करने वाला पुरुष उसका कौन हो सकता है ? जिसके द्वार पर तुमने अपना एकनिष्ठ प्रेम, पूजा की आरती लुटा दी, अपना सर्वस्व खो दिया वह मर्द तुम्हारा पति नहीं तो क्या हो सकता है ? हमारे हिन्दुस्तान में तो केवल पति-पत्नी का उच्च

स्थान है, वेश्याका नहीं। हाँ—तो उस पति के वचन टालते में तुम्हें द्विधा न करना चाहिए, जो कि कापुरुष हो, समाज में अपना सुनाम, लज्जा ढाँकने के लिये सन्तान-वध करे, पिता होकर भी वंश-नाश के लिए विषाक्त खड्ग उठावे ऐसे पति का वचन हम टाल सकते हैं। यदि पति स्वार्थी है, भूल में है, पाप कर रहा है, तो स्त्री का कर्तव्य है उसे रोकना, अपनी मंगलमयी बाँह में उसे खींच लेना।

'फिर तुमने पत्नी होते हुए ऐसा क्यों न किया मामी ?'—यमुना बोली कविता से।

कविता के मुँह पर पीड़ित हँसी खिल पड़ी—ऐसा क्यों न किया ? किन्तु उन्होंने तो किसी दिन पत्नी कहकर मुझे स्वीकार किया नहीं।

कविता कुछ देर चुप रही फिर बोली—'मैं तो इस बात को अपने तक ही रखना चाहती थी, किन्तु आज तुम जबर्दस्त आघात कर बैठीं यमुना। कहती थी—जो प्यार एक-दूसरी स्त्री के द्वार पर लुट चुका था, कदाचित् मुझसे विवाह के पहले, तो उस प्रेम की, उस चाह की भीख मैं माँगती कैसे ? कभी एक दिन भी तो उन्होंने—नहीं; जाने दो उस बात को। मेरी लज्जा, मेरी कथा मेरे लिए ही छोड़ दो। कहना केवल इतना है यमुना, यदि उन्होंने भूल की है तो अब भी वह सुधर सकती है। प्रकाश्य रीति से दीदी से वह ब्याह कर लें और दुनिया के सामने अपनी सन्तान को गोद में उठा लें। पिता का काम करें। इसमें तो अब केवल एक बाल-विधवा का प्रश्न नहीं रह गया, पिता का श्रेष्ठ और प्रधान प्रश्न भी है न ?'

'तुम तो अन्धेर की बात कहती हो मामी ! मामा जैसे एक प्रतिष्ठित व्यक्ति विधवा से, विशेषत: गर्भवती विधवा से विवाह कैसे कर सकते हैं।'

'तो वह हत्या करे—यही कहना चाहती हो न ? मैं पूछती हूँ प्रतिष्ठा का महत्व ज्यादा है ?'

'जरूर।' यमुना ने कहा।

'और हत्या क्या है, पाप नहीं है ? किन्तु क्यों ? छिपकर जो काम किया जाता है वह पाप नहीं क्यों है ? जाओ, तुम उन्हें समझाओ, वह तो पशु नहीं हैं। मेरे विचार से स्नेह भी उनका क्लिष्ट नहीं है। मैं जानती हूँ उनका हृदय कितना स्नेहशील है, ऊँचा है। यदि उन्होंने एक भूल कर ली है तो वह भूल उनके मनुष्यत्व को नहीं ढाँक सकती।'

'दुनिया में मार-खसोट मची रहती है, वह तो केवल सुनाम और प्रतिष्ठा की और प्रतिष्ठित रखने के लिए न ? तो उस सम्मान, प्रतिष्ठा को पैरों तले कुचलने के लिए मामा से अनुरोध कैसे करूँ।'—यमुना ने कहा।

'ठीक है ! किन्तु वास्तविक साहस और सद्भावना तथा सत साहस से प्रतिष्ठा-सम्मान बढ़ता है, घटता नहीं। अच्छा तो मैं ही कहूँगी।'

'कवि, तू मेरी छोटी है। और मैंने जो कुछ किया है, उसकी चर्चा अब जाने दो। लिखी-पढ़ी मैं हूँ नहीं, कुछ समझती नहीं किन्तु इतना कहूँगी कि ऐसा अन्धेर मत करो। मैं जो कुछ हूँ उसमें सन्तुष्ट हूँ, तू अपनी गृहस्थी सँभाल।' नीलिमा रोने लगी।

'इस विवाह से मैं आंतरिक सुखी होऊँगी दीदी ! सच कह रही हूँ । तुम्हें आपत्ति मेरे लिए है, समझती हूँ दीदी, तुम व्यर्थ अपना मन न दुखाओ । मेरे कहने से नहीं, वरन् अपने मातृ-स्नेह से सन्तान का शुभ देखो । बस इतना ही ।'

कविता के साथ यमुना भी बाहर चली गई ।

भोजन तैयार था । यमुना और पपीहरा को ढूंढ़ती कविता एक कमरे के बाहर खड़ी हो गई । कुछ ऐसी बातें उसके कान में पड़ीं, जिन्होंने कि उसे भीतर जाने से रोक दिया । कविता ने सुना, पिया कह रही है यमुना से—'ऐसी गन्दी बातें मुझसे नहीं कहा करो दीदी और न ऐसे नीच विचार मन में रखा करो । मैं नहीं कहती कि तुम झूठी हो, किन्तु इतना निश्चय है कि तुम गहरी भूल में हो । मेरे काका देवता हैं । यदि वह नीलिमा काकी पर स्नेह करते हैं तो इसमें बुरी बात कौन-सी है ? और काकी की बातें, जो कि तुमने अभी-अभी कही थीं, वे सब बातें, भूल है, तुम्हारा भ्रम है ।'

पिया के सामने जाकर चिल्लाकर कुछ कहने के लिए कविता को प्रबल इच्छा होने लगी ; किन्तु अत्यन्त सहिष्णुता से उसने अपने को रोक लिया । यमुना पर मन-ही-मन विरक्त होने लगी, उसकी बुद्धि पर हँसी । एक शिशु को वह विश्व के ध्वंस की वार्ता सुनाने लगी थी ?

किन्तु फिर भी निर्बोध यमुना को कहते सुना—'भ्रम नहीं पिऊ, मैं सच कह रही हूँ । जो कुछ मैंने कहा वह सच है । घर के सब लोग जानते हैं ।'

पिया खिलखिला पड़ी, हँसती रही, हँसती रही, पपीहरा

हँसती रही।

विरक्त यमुना उसका मुँह निहारती रह गई।

बोली पिया, हँसकर बोली—'चुप रह दीदी! तेरी बातों से मुझे हँसी आ जाती है। झूठ को तुम सब कैसा सच समझे बैठी हो। अच्छा चलो, तुम्हारा सामान बंधवा दूँ। तीन बजे की ट्रेन से जाना है न कल? न जाने काकू सवेरे से कहाँ चली गई?'

: २६ :

वसन्त-ऋतु के हिंडोले पर तब 'हिण्डोल' राग अपनी भेरी बजाने लग गया था। जल, स्थल और अन्तरिक्ष में सुहावनी घड़ियाँ घुली हुई थीं। वृक्ष के कोटरों में पक्षी शावक की रक्षा में व्यस्त थे। कोयल, बुलबुल के गान में वे घड़ियाँ घुल चुकी थीं। दिन का सुनहरापन निकल चुका था।

अपने बरामदे में आराम-कुर्सी पर पड़ा-पड़ा निशीथ दुकान के बिलों को देख रहा था। सामने के बगीचे को माली सींच रहा था। ड्राइवर कार साफ़ करने में लगा था। बीच में बड़े फव्वारे में लाल, सफ़ेद मछलियाँ किलोल कर जल में ऊधम मचा रही थीं। आम की शाखा पर दबका बगला ताक में लगा था कि मछली ज़रा ऊपर आई कि वह दो-एक को ले भागे। पृथ्वी कर्ममय थी—व्यस्त।

बिलों को निशीथ देखता जाता और घबड़ाता जाता था

—'नहीं, इस तरह से मुझसे नहीं बन सकेगा। बापरे, इस महीने में सेण्ट, साबुन क्रीम, पाउडर का खर्च तो देखो, पच्चीस की जगह चालीस। ब्लाउज़ों की सिलाई पचास। अन्धेर हो गया, और साड़ी का दाम कितना लिखा है, ढाई सौ? हाँ-हाँ ढाई सौ तो है। दो जार्जेट, एक बनारसी, एक गज ब्रोकेट, एक गज प्लास। अरे यह ब्रोकेट, और प्लास कौन-सी बला है? इन दो गज़ कपड़ों के दाम ही रखे हैं चालीस। ऐसे यह कौन से कपड़े हैं? और सिल्क, वायल, मुराठी इनके दाम? नहीं ऐसे ज्यादे नहीं। तो इस महीने में मृणाल ने हठात् इतना खर्च बढ़ा क्यों दिया?'

कमरे में पहुँची मृणाल और पति की कुर्सी में लगकर खड़ी हो गई—'यहाँ तो कोई नहीं है, फिर किससे बातें कर रहे थे, दीवाल से?'

'दीवाल से क्यों बातें करूँ, ज़रा इन बिलों को तो देखो। इतने ढेर-से कपड़े, पाउडर, स्नो, सेण्ट, इस महीने में क्यों मँगवाये गये?'

'ज़रूरत पड़ी थी तभी मँगाया। क्या अब मुझे नाप-तौल-कर सेण्ट पाउडर खर्च करना पड़ेगा?'

'नाप-तौलकर? कभी मैंने ऐसा करने को कहा है मृणाल? मैं स्वयं साबुन, क्रीम नहीं लगाता इससे क्या। तुम्हें क्यों रोकूँ? मेरी रुचि भिन्न है तो रहने दो। तुम मेरे घर आई हो। इसलिए तुम्हारी रुचि मैं नहीं बदलना चाहता; पति के अधिकार से भी नहीं; किन्तु सब बातों की सीमा रहती है। जितना सम्भव हो उतना करो। दो महीने से देख

रहा हूँ इन चीज़ों का खर्च बढ़ता जाता है। लड़कियाँ दोनों बड़ी हो गईं, उनको ब्याह देना है न ? लड़के भी अभी कालेज जायँगे और होस्टल का खर्च तो तुम जानती ही हो। यदि इन चीज़ों में हर महीना इतना पैसा निकल जाया करे तो बच्चों के लिए बचेगा क्या ? और लड़कियों का ब्याह कैसे होगा ?'

'ब्याह कैसे होगा सो मैं क्या जानूँ ?'

'तो कौन जाने ?'

'आज इन थोड़े से कपड़ों के लिए जाने कैसी-कैसी बातें सुनाई जा रही हैं। किन्तु उस दिन अनायास वे दामी कपड़े दान कर दिये गये थे। मैं भी कहती हूँ, आज से तुम्हारे पैसे पराये समझूँगी, छूऊँगी नहीं।'

'बस इस ज़रा-सी बात के लिए रूठ गईं ? चलो-चलो भीतर चलो।'—निशीथ विचलित हो रहा था। दोनों भीतर गये तो आदर से पत्नी को विव्रत करता हुआ निशीथ कहने लगा—'मैं क्या किसी दूसरे का हूँ ? कमाता तो केवल तुम्हारे लिए हूँ, मृणाल, नाराज़ क्यों होती हो। ज़रा धीरता से विचारो तो सही। इन चीज़ों में पैसा लगाना पानी में बहा देना है। दूसरी बात, एक खराब दृष्टान्त बच्चों के सामने रखना है ; यदि हम ही विलासिता में डूब रहेंगे, तो वे क्यों न हमारे दृष्टान्त पर चलेंगे ? मुझे विस्मय है मृणाल, अचानक इस विलासिता का पाठ तुमने किससे सीख लिया ?'

'इसकी ज़रूरत अभी कुछ दिन पहले से आन पड़ी थी। इस बात को क्या तुम नहीं जानते या नहीं समझते ?'

स्तब्ध विस्मय से निशीथ पत्नी को देखने लगा—नारी

की यह कैसी हेय वृत्ति है ? बनाव-शृंगार के बल पर वह पति प्रेम पर जय पाना चाहती है ? आत्म-सम्मान को पैरों तले कुचलने में पीछे नहीं हटती । भिक्षा का यह कैसा घृणित रूप है ?—विचारने को तो निशीथ इतना विचार गया, किन्तु पल-पल में वह विवर्ण भी होने लगा, किन्तु क्यों, ऐसा क्यों ? पहले तो मृणाल ऐसी नहीं थी । बनाव-शृंगार के बल पर तो कभी उसने पति प्रेम पाना न चाहा था, वरन् अपनी सत्ता के बल पर वह रानी बन बैठी थी । फिर किस स्थिति ने उसे इतने नीचे तक उतार दिया ? मैंने ? कभी नहीं । यदि वह बिना कारण सन्देह करे तो मैं क्या कर सकता हूँ ? क्या करेगी पपीहरा और क्या करूँगा मैं ? निशीथ को हँसी आई—जो पिया मर्द की छाया तक से घृणा करती है, उस पपीहरा पर यह सन्देह करती है । ज्वर के वक्त वह जो कुछ बोली थी वह तो शायद प्रलाप रहा होगा ।—प्रलाप—केवल प्रलाप ? शायद—शायद नहीं, वह तो प्रलाप ही रहा होगा । और यहाँ मृणाल व्यर्थ ईर्ष्या में जली जा रही है । यह मृणाल का अन्याय है, ईर्ष्या है, जलन है । न जाने ऐसे-ऐसे कितने ही कटु शब्द निशीथ मन में कहने लगा, किन्तु फिर भी न जाने क्यों मृणाल के प्रति उसका स्नेह उमड़-सा आया—बेचारी मृणाल, दस बार वह मन में कहने लगा—बेचारी मृणाल !

'तू पगली है मृणाल ।'—निशीथ मुस्कराया । उस मुस्कराहट ने मृणाल के मन की ईर्ष्या पर मधु का प्रलेप चढ़ा दिया । वह भी मधुर हँसी और पति के निकट ज़रा खिसककर बैठ गई ।

नौकर ने द्वार पर से पुकारा—'पत्र है ।'

पत्र देकर नौकर चला गया। एक श्वास में निशीथ ने पढ़ लिया। पत्र विभूति का था। वह लोग अपने घर जा रहे थे। निशीथ को मुलाकात के लिए बुलाया था एवं उसे भोजन के लिए निमन्त्रण भी दिया था।

'किसका पत्र है ?'—पूछा मृणाल ने।

'विभूति का।'

'यह कौन महाशय हैं ?'

'सुकान्त बाबू के दामाद।'

'पपीहरा तो क्वारी है न ?'

'हाँ ! उनकी बहन के पति हैं विभूति।'

'क्या लिखा है ?'

'मुझे भोजन के लिए निमन्त्रित किया है।'

'जाओगे ?'

'जाऊँगा क्यों नहीं ? रात की पैसेन्जर से वे लोग जा रहे हैं।'

'मेरी ही सौगन्ध है, वहाँ न जाना। यदि तुम वहाँ गए तो मैं विष खाकर मरूँगी—मरूँगी—मरूँगी।'

मृणाल उठकर चली गई।

निशीथ स्तम्भित हो रहा।

रात के आठ बजे मृणाल वस्त्र-भूषण पहनकर आई—चलो।

'कहाँ ?' निद्रालु भाव से निशीथ ने पूछा।

'सिनेमा में।'

'अभी !'

'हाँ, अभी। देखते नहीं, मैं तैयार होकर आई हूँ। चलो।'

'अभी कैसे जाना हो सकता है ? और यह कोई वक्त भी नहीं है।'

'नौ बजने को हैं। वक्त कैसे नहीं है ? मैं तो चलूंगी ही।'

'भाई के साथ चली जाओ। मुझे आज काम बहुत है।'

'बहाना करते हो। अच्छा न जाओ।'—वह मुँह बनाकर चली गई।

निशीथ कुछ देर बैठा रहा। फिर भीतर जाकर पत्नी से पूछा—'तुम गईं नहीं ?'

मृणाल चुप रही

'क्यों न गईं मृणाल ?'

'नहीं।'

'चलो न, मैं तैयार हूँ।' हँस रहा था निशीथ।

'और मैं नहीं हूँ।'

'यह अच्छी दिल्लगी है। चलो ! बच्चे भी भला क्या सोचते होंगे ?

'चाहे कुछ सोचें, मैं नहीं जाने की।'

'अच्छा भई, माँफी माँगता हूँ, अब तो चलो।'

मृणाल प्रसन्न हँसी के साथ उठी।

'लड़कियाँ कहाँ है ? वे न चलेंगी ?'—निशीथ ने पूछा।

'नहीं।'

'क्यों नहीं ? बुला लो उन्हें।'

'वे कल चली जायँगी।'—कहकर मृणाल गाड़ी में बैठ गई।

गाड़ी कुछ दूर निकल गई तो मृणाल ने कहा—'नहीं, आज सिनेमा न चलूँगी। चलो, ज़रा यों ही घूम आवें।'

'अच्छी बात है।'—उत्तर में निशीथ ने कहा।

शहर के बाहर खुली हवा में गाड़ी उड़-सी चली। अचानक मृणाल चिल्ला पड़ी—'रोको, रोको।'

'क्यों, क्या बात है ?'

'स्टेशन चलूँगी।'

प्रगाढ़ विस्मय से निशीथ चुप रहा। प्रश्न-उत्तर करने को उसका जी न चाहा—न चाहा। वह थक-सा गया था न।

मृणाल कहने लगी—'भूल गई थी। विमला आज आने वाली है। सवेरे उसकी चिट्ठी मिली थी। जब यहाँ तक आये हैं तो चलो जरा स्टेशन में देख लें वह आई है या नहीं।'

निशीथ कुछ न बोला। गाड़ी से उतरा और चलने को हुआ।

मृणाल ने उसका हाथ पकड़ लिया। इसके बाद इठलाती-सी प्लेटफार्म पर चली गई।

यमुना और विभूति को पहुँचाने स्टेशन पर पपीहरा एवं कविता आई थीं। ट्रेन आने में देर थी। वे सब प्लेटफार्म पर बैठे बातें कर रहे थे।

उन सबने निशीथ को देखा।

विभूति ने कहा—'तुम्हारे लिए हम सब भूखे बैठे रहे निशीथ ! जब आते न दिखे तो लाचारी से हम ही ने खा लिया। आये क्यों नहीं ?'

'आप भी कैसे हैं निशीथ बाबू, दिन-भर हम सबने मिलकर

रोटी बनाई और भूखों मरीं।'—हँसती हुई पपीहरा बोली।

पति को खींचती मृणाल बोली—'जोर से सिर दर्द होता है, घर चलो।'

अत्यन्त करुणा से निशीथ ने पत्नी को देखा, फिर पिया से बोला—'आज ज़रा व्यस्त रहा पिया देवी, क्षमा करना और विभूति, यमुना देवी, आप भी। अच्छा नमस्कार।'

वे चले गये तो यमुना ने कहा—'क्या यह निशीथ बाबू की पत्नी है ?'

'हाँ।' कविता ने उत्तर दिया।

'कैसी असभ्य है, न स्वयं बोली, न निशीथ बाबू को बात करने दी। जैसी तो असभ्य है वैसी ही घमण्डिन और अशिक्षिता।'—यमुना अकेली ही बड़बड़ाती रही।

: ३० :

उस घर में जाने एक कैसी उदासी छाई हुई थी। वैसी सुहावनी बसन्त ऋतु भी मानो उस घर में मूक, बधिर थी—गूंगी-सी, व्याधिक्लिष्ट एक क्षय-रोग-सी निर्जीव।

यमुना चली गई थी। पपीहरा वायु परिवर्तन की व्यवस्था में व्यस्त और कविता न जाने कौन-सी धुन में सुध-बुध बिसार बैठी थी, एक तपस्विनी-सी और उस दुखिया नीलिमा के मन की कथा तो वही जाने।

प्रातःकाल पिया सोकर उठी तो द्वार के बाहर भेंट हो

गई कविता से । वह जाना चाहती थी और पिया उसे रोकना चाहती थी—'काकू, तुम रोती थीं ?'

'मैं ? तो किस दुःख से रोऊँ ?'

'तुम मुझसे उड़ती हो । झूठ बोलती हो काकू ! मानती हूँ कि झूठ बोलना भी एक आर्ट है । किन्तु तुम-सी स्त्री के लिए नहीं । तुम झूठ नहीं बोल सकती हो काकू । मैं जान लेती हूँ—चाहे तुम अपने को कितना भी छिपाओ ।'

'झूठ कैसा ? मच्छर बहुत थे । रात मैं सो नहीं सकी ।'

पिया खिलखिला पड़ी—'अच्छा जाओ काकू, तुम पर दया आती है ।'

मुस्कराती कविता चलने लगी ।

पिया ने पुकारा—'सुनो तो । तुम्हें जाने क्या हो गया है । वायु-परिवर्तन की बातों में ध्यान नहीं देतीं । सब तैयारी हो गई है । कल बाम्बे-मेल से चलना होगा, समझीं ?'

'कल नहीं मेरी पिया रानी, केवल एक सप्ताह और ठहर जा । फिर सब लोग खुशी से चलेंगे ।'

'क्यों काकू ?'

'एक ज़रूरी काम है ।'

'कौन-सा ऐसा काम है ?'

'वह काम ही ऐसा है पिया कि उसे किए बिना मैं स्वर्ग में जाने को भी तैयार नहीं हूँ ।'

'ऐसा ! क्या मैं नहीं सुन सकती ?'

'क्यों नहीं ।'—असंकोच कविता कहने लगी—'और बात ही ऐसी कौन-सी छिपाने की है ? तुम्हारे काका की शादी

कर लूँ तो चलूँ।'

'फिर भी वही काका वाली बात।'—पिया का जी जाने कैसा उदास हो गया। उसने पूछा भी नहीं कि ऐसा क्यों कर रही हो और नई दुलहिन कौन है। नहीं, वरन् वह भाग गई, भाग गई। पिया—पपीहरा मीठी खुशी-सी, शान्त हँसी-सी पपीहरा भाग गई, भाग गई।

काका के विषय में वह कुछ सुनना नहीं चाहती। चकित कविता कुछ देर चुप खड़ी रही, फिर पति के कमरे में चली गई।

पहुँची तो पाया उसने सुकान्त को आँख बन्द किये पड़े। यह कमरा उसके पति का था; किन्तु उसका नहीं।

कविता ने एक अकम्पित दृष्टि से कमरे को देखा। एक विराट् विलासिता की छाप लिए कमरा मूक नहीं—मुखर रो रहा था। उसका मन कदाचित् एक बार ललचा-सा उठा—उस विलासिता, उस प्रेम के राज्य में अपनी भी एक हलकी-सी छाया, छोटी स्मृति खोज निकालने के लिए; किन्तु पाया उसने कुछ भी नहीं। छोटी-सी खोई हुई स्मृति, खोये हुये, हलके चुम्बन ? नहीं, नहीं, कुछ भी नहीं, कुछ भी नहीं।

उस पलंग पर पड़े व्यक्ति उसके पति थे ; किन्तु कैसे पति ?—पलभर के लिए उसके मन में विचार उठा—'मेरे तो वह पति हैं ; किन्तु कैसे पति ? दो छोटे अक्षर उसके मन के भीतर व्यंग, परिहास से धूम मचाने लगे—पति—पति—पति।'

पत्नी को देखकर विस्मय से नहीं ; किन्तु एक अवसाद से सुकान्त उठकर बैठ गये—'आओ कविता, बैठ जाओ।'

कविता सहम कर कुर्सी पर बैठी, असंकोच बोली—'आप दीदी के पति हैं, तो उस पतित्व को दुनिया के सामने स्वीकार करने में हानि क्या है ?'

सुकान्त का स्वर भारी हो गया—'हानि क्या है, किन्तु अपना अपराध मैं तुमसे नाटकीय ढंग पर क्षमा कराना नहीं चाहता कविता ! मैं स्वार्थी हूँ, पशु हूँ, किन्तु फिर भी तुम्हारे जीवन को जिस तरह मैंने नखों से भिन्न-भिन्न कर डाला है, उसके लिए क्षमा-प्रार्थना कर एक नाटक की सृष्टि मैं अभी भी नहीं कर सकूँगा। तुम कहती हो हानि क्या है ?'

'मेरी बातें मेरे ही लिए छोड़ दीजिए। अपने जीवन से समझौता कर लूँगी।'

'जानता हूँ कविता, तुम देवी हो। और उस देवी को पशु की रक्त पिपासा की आहुति भी नहीं बनाना चाहता। पशु हूँ, किन्तु पशु भी कभी देवी का ध्यान कर लेता है और वह ध्यान ही उसका चरम लाभ है, वही है पशु-जीवन का वरदान। तुम कहती हो हानि नहीं है ? परन्तु मैं कई बातों के लिए असमंजस में पड़ गया हूँ।'

'वह कैसी भी जटिल समस्या क्यों न हो, किन्तु सन्तान के कल्याण के आगे कोई भी समस्या नहीं उठ सकती। आप सन्तान के पिता हैं।'

सुकान्त ने सर नीचा कर लिया।

'शायद यह समस्या प्रतिष्ठा, सम्मान और पिता को लेकर है, और—और, शायद उस समस्या में मैं भी कुछ उलझ-सी गई हूँ। कदाचित् यही है आपकी समस्या।'

सुकान्त ने मुँह फेर लिया, उनका आर्त स्वर कमरे के कोने-कोने में सिर पीटता फिरने लगा—'चुप रहो कविता, चुप रहो। आज कैसी-कैसी बातें तुम करने के लिए आई हो? नहीं, मैं सच सुनना नहीं चाहता, झूठ में सना पड़ा रहना चाहता हूँ।'

'किन्तु आपके लिए तो वैसा नहीं हो सकता है। आप सन्तान के जन्मदाता हैं। पिता हैं।'

'कुछ नहीं। मैं किसी का कोई नहीं। यदि भूल की है तो भूल ही को निर्मूल समझना चाहता हूँ। मिथ्या को सत्य मानना चाहता हूँ।'

'पिता को सत्य मानना और मिथ्या वर्जित करना है। आप पिता हैं।'

'सुन लिया, सहस्त्र बार सुन लिया कि मैं पिता हूँ। पिता—पिता—। तो मुझे करना क्या है?'

'वास्तव को प्रतिष्ठा दे सन्तान को पितृस्नेह से गोद में उठा लेना।'

'मैं तैयार हूँ।'

'फिर देर न करें। कल वैदिक मत से विवाह हो जाय।'

'कल ही? क्या दो दिन विचार करने का समय न मिलेगा?,

'नहीं।'—न्याय-विचारक की भाँति गम्भीर स्वर से कविता कह उठी।

'अच्छी बात है। परन्तु पिया के सामने मैं ऐसा करूँ कैसे?'

उस स्वर को सुनकर कविता का चित्त स्नेह, दया से भर

उठा। बोली—'आप लज्जित, संकुचित किस लिए हो रहे हैं? पिता के सत्कार्य से, वास्तविक कर्तव्य से, साहस को देखकर पपीहरा सन्तुष्ट होगी, और पृथ्वी खुशी मनावेगी, एवं देवता देंगे आशीर्वाद। घातक के खड्ग से आप सन्तान को बचा लेंगे उसका वास्तविक अधिकार उसे देंगे, इसमें हँसने की, निन्दा की धिक्कारने की कौन-सी बात है?'

'अच्छा। मैं तैयार हूँ।'

कविता चली गई।

बात जब हरमोहिनी के कान तक पहुँची तो उन्होंने अपना सिर पीटकर खून बहा लिया। हिन्दू की घर की बाल-विधवा का पुनर्विवाह? बाप रे बाप, कैसा अन्धेर है। सृष्टि डूब जायगी, डूब जायगी। सत्य सुन्दर कुछ न रहने पायगा। रो-पीटकर उन्होंने अन्न-जल त्याग दिया।

आधी रात में कविता माँ के सिरहाने बैठ गई—'किस लिये आज तुम ऐसा कर रही हो माँ, जरा विचारो तो सही।'

उन्मादिनी-सी माँ उठ बैठी—'मेरा सर्वनाश हो गया। दुनिया को मैं मुँह कैसे दिखाऊँगी?'

'वास्तविक अपराध को छिपाकर दुनिया के सामने साधु बनना एक पाप है माँ। और इसलिए हम सब उस पाप से बच रहे हैं।'

'चल हट, दूर हो मेरे सामने से।'

'ज़रा-सा तो समझो माँ!'

'अरे मैं क्या समझूँ? मेरे सात पुरखे नरक में डूब जायेंगे। हिन्दू की विधवा का विवाह न कोई शास्त्र में है, न धर्म में।'

सुकान्त ने मुँह फेर लिया, उनका आर्त स्वर कमरे के कोने-कोने में सिर पीटता फिरने लगा—'चुप रहो कविता, चुप रहो। आज कैसी-कैसी बातें तुम करने के लिए आई हो? नहीं, मैं सच सुनना नहीं चाहता, झूठ में सना पड़ा रहना चाहता हूँ।'

'किन्तु आपके लिए तो वैसा नहीं हो सकता है। आप सन्तान के जन्मदाता हैं। पिता हैं।'

'कुछ नहीं। मैं किसी का कोई नहीं। यदि भूल की है तो भूल ही को निर्मूल समझना चाहता हूँ। मिथ्या को सत्य मानना चाहता हूँ।'

'पिता को सत्य मानना और मिथ्या वर्जित करना है। आप पिता हैं।'

'सुन लिया, सहस्र बार सुन लिया कि मैं पिता हूँ। पिता—पिता—। तो मुझे करना क्या है?'

'वास्तव को प्रतिष्ठा दे सन्तान को पितृस्नेह से गोद में उठा लेना।'

'मैं तैयार हूँ।'

'फिर देर न करें। कल वैदिक मत से विवाह हो जाय।'

'कल ही? क्या दो दिन विचार करने का समय न मिलेगा?,

'नहीं।'—न्याय-विचारक की भाँति गम्भीर स्वर से कविता कह उठी।

'अच्छी बात है। परन्तु पिया के सामने मैं ऐसा करूँ कैसे?'

उस स्वर को सुनकर कविता का चित्त स्नेह, दया से भर

सकती है ? मैं तुम्हीं से पूछती हूँ—माँ, तुम हत्या चाहती हो या रक्षा ?'

तकिये के भीतर गृहिणी ने अपना मुँह छिपा लिया। कविता चुपके से उठी और अपने कमरे में चली गई। एक बार उसकी इच्छा हुई कि नीलिमा के रुद्ध कमरे में झाँककर देखे, परन्तु वैसा उसने कुछ न किया। अपने कमरे में जाकर बत्ती बुझाकर पड़ रही। कौन जाने उस अँधेरी रात में उसकी आँखों में नींद रही या आँसू।

: ३१ :

उस दिन का सवेरा कविता के द्वार पर प्रलय के रूप में आ जायेगा, इसकी खबर किसे थी ? झलमलाती धूप उस बृहत् मकान की दालान, कमरों में होती हुई आधे आँगन में फैल चुकी थी, किन्तु उस अभागिन नीलिमा की रुद्ध खिड़की के भीतर पहुँच न पाई थी। फिर इसकी खबर भी कौन रखता ? सब अपने-अपने काम में व्यस्त थे।

पपीहरा ठीक किस लिए उस बन्द कमरे के सामने उस दिन थमथमाती रही सो वह स्वयं ही नहीं जान सकी। साँकल खटखटाने लगी। कोई उत्तर न मिला तो चिल्लाकर पुकारने लगी—नीलिमा काकी, ओ काकी, अरी सुनती हो ? जाने नीलिमा काकी कैसी सोती हैं। बाप रे बाप, नौ बजे तक यदि मैं सोऊँ तो मेरा जी घबराने लगे। नहीं, वे उठने की नहीं।

चलो जरा टहल आयें।—पपीहरा चलने को हुई। कविता वहाँ से निकली तो हँसकर बोली—'अकेली बकती हो या कोई सुनता भी है पिया ?'

'देखो वह बेख़बर कैसी सो रही हैं। नौ बजते होंगे।'

'नौ नहीं, साढ़े नौ हो गये। क्या दीदी उठी नहीं ?'

'और कह क्या रही हूँ।'

कविता ने ज़ोर से दरवाज़े पर धक्का दिया—एक, दो, तीन, और देती ही चली गई। किन्तु नहीं, भीतर जीवन की साँस नहीं उठ सकी।

घर के दास-दासी, हरमोहिनी सब एकत्रित हो गये। बाहर ख़बर गई, एवं सुकान्त पहुँचे। तब दरवाज़ा तोड़ने का परामर्श हुआ। दरवाज़ा तोड़ा गया। प्राय: एक साथ सबकी दृष्टि कमरे के भीतर चली गई। मृत्यु के साथ जीवन के युद्ध से कमरा ध्वस्त, त्रस्त, मथित हो रहा था। एक ओर जल-शून्य सुराही टूटी पड़ी थी, कदाचित् तृष्णार्त नीलिमा उसके जल से न अघाई हो और मारे प्यास के अन्त तक सुराही तोड़कर उसके टुकड़ों को सूखे ओंठ से चूसा हो। कमरे के बीच में उसका विवस्त्र शरीर पड़ा था। सिर के बाल बिखरे, आँखें फटी थीं। सुराही का एक बड़ा-सा टुकड़ा उसके स्पन्दन-हीन हृदय पर रखा हुआ था। पेट फूल गया था, जीभ निकल आई थी, ओंठ नीले पड़ गये थे। एक स्थान में वमन पड़ा था। पलंग के तकिये, चादर, घर के चहुँओर इस तरह क्षिप्त थे कि जैसे मौत से वे सब युद्ध करते-करते हार गये हों और विजयी मृत्यु उनको दलती, रौंदती, निकल गई हो।

नीलिमा के परिधेय वस्त्र के टुकड़े इधर-उधर फैले पड़े थे, बाक्स उल्टा पड़ा था। चहुँओर एक विभीषिका छाई थी और उस विभीषिका के बीच में, ज़मीन पर आँख फाड़े पड़ी थी नीलिमा। प्याले के तरेट में ज़रा-सा कुछ लगा था, एक गिलास पास में लुढ़का पड़ा था। अपने मुँह पर आँचल ढाँककर हरमोहनी वहीं पर बैठ गईं। अपराधिनी सन्तान की माता थीं वह, उन्हें रोने का अधिकार कहाँ था? सुकान्त सिहर उठे, मुँह फेर लिया। नहीं, उस दृश्य को देखने का साहस उनमें था नहीं। पपीहरा शव-सी अकड़ी खड़ी रह गई और कविता का संज्ञाहीन शरीर ज़मीन में लुढ़का रहा। डाक्टर आया। उस समय कमरे में नीलिमा के शव के सिवा एक व्यक्ति और था, जो कि सिर नीचा किये चुपचाप बैठा हुआ था। देखना कर्तव्य था; इसलिए डाक्टर ने मृत शरीर को घुमा-फिराकर देखा। उस प्याले में घुली अफ़ीम को भी देखा। कहा—'अफ़ीम से आत्म-हत्या हुई है, प्राण निकले कोई तीन घण्टे हुए होंगे।'

डाक्टर चला गया। बड़े घर की बात थी, दबा ली गई।

केवल तीन घण्टे हुए इसे मरे—सुकान्त उस रुद्ध कमरे में मृत नारी के निकट बैठे विचारने लगे—तीन घंटे पहले तक शायद यह माँ होने की खुशी में मस्त रही होगी और न जाने वह कौन-सी विराट् लज्जा, कौन-सा विराग, कौन-सी वह ग्लानि उस खुशी को अजगर की तरह धीरे-धीरे निगलती चली गई होगी। कौन-सी वह सर्वग्रासी उपेक्षा, निरादर, अवहेलना उस खुशी का गला दबा बैठी होगी, जिसमें कि तिल-

तिल में घुट-घुटकर उस खुशी की मृत्यु हो गई होगी ! किन्तु फिर भी शायद इस स्त्री के अन्तर की स्नेहमयी माता जीना चाहती रही होगी और उस आगतप्राय जीव के लिए आरती का दीप उजियार लिया होगा।

कदाचित् अपने शिशु के बारे में इसने स्नेह से सोचा होगा—मेरे बच्चे के रूप में कहीं श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, राम-लक्ष्मण, अरे कहीं कवि-गुरु तुलसीदासजी, कोई राष्ट्र का नेता, कोई विश्वप्रिय शिल्पी, कोई श्रेष्ठ चिकित्सक, कोई अमर वैज्ञानिक तो नहीं आ रहे हैं ? और इसने तभी-तभी विचार लिया होगा—असम्भव बात ही इसमें कौन-सी है ? हम नारियों ने ही तो एक दिन उनको जन्म दिया था और देती चली आ रही हैं। बस, इतना विचार लेने के बाद इसका मन गर्व, आनन्द से भर गया होगा।

किन्तु इसके बाद फिर भी [illegible] की विमुखता ने इसके हृदय के सारे सौन्दर्य, स्नेह को चूस लिया होगा और उस विमुखता ने कल्याणमयी माता का गला घोंट दिया होगा। और उसके बाद ? उसके बाद भी शायद इसने मौत को न चाहा होगा । सहारे के लिए एक छोटी-सी नौका ढूंढ़ती फिरी होगी। इस विशाल पृथ्वी के कोने-कोने में ढूंढ़ती फिरी होगी। और अवलम्बन के लिए जब एक तिनका भी न मिला होगा, तब इसने अकुलाकर मौत को पुकारा होगा, उसकी गोद में जाने के लिए विनय के साथ बाँह बढ़ा दी होगी। तब मौत भी इससे व्यंग कर पीछे हट गई होगी । जीवित और मृत-लोक की त्याज्य जननी नारी के नेत्र तब एक अपूर्व श्री से उद्भासित हो

गये होंगे। और इसके बाद? इसके बाद ज्वालामुखी का अग्नि-कुण्ड फट पड़ा होगा और उसमें का हत्यारा दैत्य दोनों हाथ में अग्नि-स्फुलिंग लिये इनके सामने खड़ा हो गया होगा। उस आश्रय को देखकर गर्भवती एक बार काँपी होगी, पीछे हटी होगी, भागना चाही होगी; परन्तु फिर भी उस आश्रय को छोड़ न सकी होगी। दैत्य के हाथ से इसने प्याला ले लिया होगा, उसे मुँह से लगा लिया होगा। किन्तु फिर भी शायद यह जीना चाह रही होगी, उस आनेवाले शिशु को मन में प्यार किया होगा। उसे एक बार देखना चाहा होगा। पल-भर के लिए तृष्णार्त हृदय से लगा लेना चाहा होगा। उसके जन्मदाता पिता की गोद में क्षण-भर के लिए बच्चे को देना चाहा होगा। तब—उसने जीना चाहा होगा, जीना चाहा होगा। दैत्य के आश्रय को अस्वीकार कर तब इसने युद्ध-घोषणा कर दी होगी। इसने जीना चाहा होगा, जीना चाहा होगा। दैत्य से युद्ध करते-करते यह थक गई होगी। एक पल में सब कुछ व्यर्थ हो गया होगा। एक नशे में मस्त यह पड़ रही होगी। अन्तिम समय कदाचित् इसने किसी एक को पुकारा होगा। और तन्द्रा-आच्छन्न नेत्र बार-बार द्वार के प्रति उठे होंगे एवं निराश-व्यथा से दृष्टि मूर्च्छातुर हो गई होगी।

अबसे लेकर तीन घण्टे पहले तक माता का हृदय शिशु के लिए व्याकुल रहा होगा। और सबसे पीछे? नहीं-नहीं, इसके भी पीछे की बात सुकान्त नहीं सोच सकते। आच्छन्न-से सुकान्त बैठे रह गये। खिड़कियाँ भीतर से बन्द थीं, दरवाजा भिड़ा हुआ था। और उसके भीतर समाधि लगाये बैठे थे ज़मींदार। सुकान्त

को लगा उसके चहुँओर अन्धकार-सा था। सुकान्त उठने को हुए। किन्तु फिर भी न जाने क्यों वहाँ से हट न सके। लगा—कमरे के कोने-कोने में कोई फुसफुसाकर रो रहा है। उन्होंने आँख पसारकर देखा—नहीं कुछ नहीं है। सुकान्त एकदम चकित हो गये। रोमांचित सुकान्त ने देखा—एक सफ़ेद वस्तु कुछ दूर पर पड़ी है। उन्माद से सुकान्त देखने लगे—देखने लगे। बच्चा रो उठा—मिऊँ-मिऊँ। बच्चा—मेरा बच्चा, नीली का बच्चा!—एकदम सुकान्त के मन में आया—बच्चा जो कि रो रहा है—वह नीलिमा का है! उन्होंने जोर से आँखें बन्द कर लीं।—मिऊँ-मिऊँ पुकार इस बार बिल्कुल उनके निकट से आ रही थी, अपने आप सुकान्त के नेत्र खुल गये। सीधे नीलिमा पर जा गिरी वह विह्वल दृष्टि। सुकान्त की विस्फारित दृष्टि उसी स्थान पर विमूढ़-सी हो गई। उस विमूढ़ दृष्टि ने देखा, नीलिमा आँखें फाड़े उसे देख रही है और बच्चा उसके हृदय पर बैठा उसे पुकार रहा है—माँ—माँ! सुकान्त ने सुना—मिऊँ-मिऊँ—नहीं! वह पुकार रहा है माँ—माँ। बच्चा-बच्चा, नीला का बच्चा, मेरा बच्चा। ऐसा सफ़ेद, रूई-सा सफ़ेद, तुषार-सा शुभ्र।—नहीं-नहीं! मैं देख नहीं सकता। सुकान्त ने आँखें बन्द कर लीं। उन रुद्ध नेत्रों के भीतर एक नग्न रमणी साकार हो उठी और एक तुषार-शुभ्र बच्चे को गोद में दबाकर उनके निकट आकर खड़ी हो गई। बच्चा पुकार उठा—मिऊँ-मिऊँ। सुकान्त के वस्त्र को धीरे से किसी ने खींचा। एक चीत्कार, उसके बाद जमींदार दरवाजे से

टकराकर गिर पड़े। नीलिमा के कमरे में बिल्ली ने बच्चे दिये थे न।

जब राजा के बिना राज्य अचल नहीं होता है तब नीलिमा-जैसी एक अभागिनी स्त्री की मृत्यु से जमींदार-परिवार सचल अवस्था में कैसे रहता। कुछ दिन सब लोग उदास रहे थे, किन्तु उन उदास महीनों के कटने के साथ-ही-साथ हँसी-खुशी, काम-काज ने अपना-अपना स्थान अधिकार कर लिया। केवल कविता का गाम्भीर्य जरा और बढ़ गया, हरमोहिनी के आँसू रात की चुप्पी में झरने लगे और उस दुखिया के लिए पपीहरा का दीर्घश्वास पृथ्वी के कोलाहल में छिपा रह गया। कोई जान न सका, समझ न पाया, वरन् पृथ्वी धारणा भी नहीं कर सकी कि नीलिमा के लिए पिया के हृदय में कैसी व्यथा, सहानुभूति भरी हुई है। लोक-दृष्टि के बाहर वह उसके लिए रो लेती। यदि कोई पूछता तो कह देती—'सर्दी से आवाज भारी हो रही है और आँखें फूली हैं।'

उस दिन सबेरे से आकाश में काले मेंह के टुकड़े जम रहे थे। सन्ध्या होने तक बूँदें बरस पड़ीं।

कविता को काम-धन्धे से अवसर मिला तो पिया के कमरे में चली। अब पूरी गृहस्थी उसके सिर पर थी, पर्दा हटाकर वह भीतर गई, किन्तु द्वार के भीतर पैर रखते ही उसके पैर अचल-से हो रहे—इस चंचल स्वभाव की दुर्दान्त लड़की पिया को ऐसा कौन-सा आघात मिल गया, जिससे कि वह बाहर के कोलाहल को त्यागकर, एक ऐसी खुशी भरी सन्ध्या में घर के कोने में उदास बैठ सकी है? इस बात को विचारकर कविता

का मन उदास हो गया। पिया वैसे ही खिड़की पर खड़ी रह गई और कविता धीरे से उसके पास पहुंच गई। किन्तु इस बार उसके विस्मय का ठिकाना न रहा। पिया रो रही थी—रो रही थी। पिया —पपीहरा रो रही थी। अपने विवाहित जीवन में कविता ने इस लड़की को सदा पाया है—एक छलकती हुई, गीत-मुखर नदी-सी,—आनन्द से इठलाती। शोक, दुःख, निरानन्द कहकर दुनिया में कोई वस्तु रह सकती है—ऐसा आभास उस हँस-मुख लड़की में कभी भी नहीं पाया गया था। सो ऐसा उल्टा होते देखकर कविता को विस्मय के साथ व्यथा भी अनुभव होने लगी। विस्मय से वह सोचने लगी—ऐसी व्यथा को इस तरुणी ने कहाँ छिपाकर रख छोड़ा था? वह ऐसा कौन-सा दुःख है, जिसने कि उस विजयी हृदय पर जय पा ली है? इस शिशु-स्वभाव में वृद्धत्व कहाँ से आ गया? किन्तु वह वेदना तो सामान्य न होगी, जिसने कि इस हँसी की फुलझड़ी में आँसू की नदी बहा दी। ऐसे विचार उठते ही कविता एकदम सिहर उठी।

बड़े आदर से कविता ने पुकारा—'पिया रानी!'

जल्दी से पिया ने आँसू पोंछ लिये, हँसने के व्यर्थ प्रयास से उसके मुख की रेखाएँ कुञ्चित होने लगीं। बोली—'कबसे पीछे खड़ी हो?'

कविता चुप रही।

'बूँदें देखने में ऐसी लगी कि तुम्हारा आना नहीं जान सकी। कैसी सुहावनी बूँदे पड़ रही हैं काकू, देखती हो न?'

पिया की उस गोपन-वृत्ति ने कविता का मन और भी

उदास कर दिया। इस गोपनता के आवरण में पिया एक साधारण स्त्री-सी लगने लगी और जिस साधारण स्त्री से कविता की न जान थी, न पहचान। इस पिया को स्वीकार करने में उसका जी दुखने लगा। कहा कविता ने—'मेरी पिया, रानी पिया, वेदना के किस अतल में तुम डूब रही हो? यह सब कुछ हम स्त्रियों को सोहता है, तुझे नहीं सोहता पिया।'

'तो मुझे क्या सोहता है? क्या मैं मर्द हूँ?'—पिया हँसने लगी।

'नहीं, मर्द में ऐसा साहस कहाँ है?'

अब पिया खिलखिला पड़ी—'अरे, मर्द भी नहीं? नर नहीं, नारी नहीं, तो मैं हूँ कौन?

'एक उल्का।'

'उल्टा? तो क्या पृथ्वी को भस्म करने के लिए मैं आई हूँ?'

'नहीं, सब कुछ नियम बदल देने के लिए, और अपनी ही प्रचण्ड शिखा में स्वयं मस्त रहने के लिए। जीवन और मृत्यु, स्नेह-प्रेम की परिधि के बाहर, दूर—बहुत ऊपर उल्का का निकेतन है। तू एक उल्का है पिया!'

'और मेरी काकू है एक पहेली; जिसे सुलझाते-सुलझाते उल्का की शिखाएँ निस्तेज पड़ गईं; किन्तु पहेली न सुलझ सकी।'

कविता भी मुस्करा पड़ी—'चलो अच्छा ही हुआ। पहेली सुलझाने में मेरी पिया लगी रहेगी। और देश-सेवा की धुन उसके सिर से निकल जायगी। अच्छा हुआ।'

'सेवा ? सेवा मैं कहाँ करती हूँ काकू ?'

'सेवा नहीं तो यह क्या है ?'

'इसे देश-सेवा नहीं कहते। कभी चली जाती हूँ, बस। किन्तु इससे तुझे ऐसी वितृष्णा क्यों है ?'

'वितृष्णा नहीं रानी। डर कहो। मुझे सदा डर लगा रहता है।'

'डर लगा रहता है ?'

'हाँ, डरती हूँ कि कहीं तू जेल न चली जाय।'

'जेल जाना कोई पाप है ?'

'सो मैं नहीं जानती। जानती केवल इतना हूँ कि मेरी सुखी पिया उस जीवन की कठोरता को न सह सकेगी। स्वास्थ्य बिगड़ जायगा।'

'ठहरो-ठहरो। बात पूरी कर लेने दो। हाँ, स्वास्थ्य बिगड़ जायगा और पिया मर जायगी। बस इसी मृत्यु का तुम्हें डर न है काकू ?'

'हाँ, है। कौन मेरी दो-चार पिया हैं।' ऐंठकर कविता ने कहा।

'तो मरना ऐसा खराब, ऐसा डरावना कहाँ है काकू ? तुम डरती क्यों हो, एक दिन तो सबको मरना है न ?'

'मौत खराब नहीं है, डरावनी नहीं है ? कह क्या रही हो ? क्या दीदी की मृत्यु को ऐसी जल्दी भूल गई ? उस दृश्य के स्मरण से अब भी मेरा जी घबराने लगता है।'

'भूल तो तुम कर रही हो काकू ! वह मौत नहीं, आत्म-हत्या थी और इसलिए उसके रूप को हमने वैसा कुत्सित, वैसा

भयावह पाया था। तापस कुटीर की शान्त छाया में जो गहरी रात की एक धूमायित परछाईं पड़ जाती है, पर्वत के रन्ध्रों से जो एक तृतीय प्रहर की धूमिल रात्रि झाँकने लगती है, बस वही तो है मृत्यु का वास्तविक रूप। उस शान्त, निरुद्वेग, धूमिल मृत्यु से भय, डर कैसा ? वन के गहन में कभी गईं थीं ? नहीं। किन्तु यदि जातीं और मध्याह्न वेला में कान लगाकर सुनतीं तो मृत्यु की लघुचरण-ध्वनि को वहाँ सुन पातीं। उस ध्वनि में न उत्ताप रहता है, न उष्णता रहती है ; एक शान्त, निद्रालु श्री, निष्ठ तन्द्रा—बस। वन के निविड़तम प्रदेश में जो एक तन्द्रा भरी रहती है, उससे यदि तुम्हारा परिचय हो जाता तो तुम जान जातीं, मृत्यु कैसी आच्छन्न-तन्द्रा की मिष्टता से भरी हुई है। चलोगी काकू—मेरे साथ वन में ?'

'तू घने वन में कभी गई थी ?'—कविता के कंठ में विस्मय था।

'अनेक बार।'

'ऐसा मत करना पिया।'

'क्यों ?'

'वहाँ जाने कितने हिंस्र जन्तु रहते हैं।'

'तो वहाँ न जाया करूँ ?'

'नहीं।'—कवि ने कहा।

'अच्छी बात है।'

'इधर-उधर की बातों में तुम मुझे बहका रही हो पिया ! किन्तु उस बात को जाने बिना तुझे छुट्टी न मिलेगी।'

'कौन-सी बात काकू ?'

'तेरे रोने का मुझे वैसा विस्मय नहीं है जैसा कि उसे छिपाने का।'

'किन्तु सब बात कहीं कही जा सकती है ?'

'मुझे विश्वास नहीं है पिया कि मुझसे छिपाने की कुछ बात भी तेरी रह सकती है।'

'है काकू !'—शान्त स्वर से वह बोली।

देर के बाद कविता ने कहा—'मैं कुछ-कुछ समझती हूँ पिया। किन्तु एक दिन तुम्हीं ने कहा था कि निशीथ के लिए तुम्हें रोने की जरूरत कभी न पड़ेगी।'

पिया जोर से हँसी और देर तक वह हँसती ही चली गई।

'चुप रह पपीहरा।'—खिसियाकर कवि ने कहा।

'उन्हें क्यों खींचती हो ? यदि आज तुमने पिया की आँखों में आँसु देखे भी हों तो भूल जाओ। सच कहती हूँ, आँसू का घोषाल से बिल्कुल संबन्ध नहीं है। उनके लिए मैं रोऊँगी ? पागल हो गई हो ?'

'ऐसा ? पर मैंने समझा उस स्टेशनवाली बात के स्मरण से तुम्हें रोना आ गया हो। वैसी अवहेलना—'

पिया ने गर्व से उसकी ओर देखा—'बस करो। क्या तुमने मुझे एक भिखारिन समझ रखा है ? किसी के आदर और उपेक्षा का मूल्य तुम्हारी पिया के पास एक-सा है। समझी मेरी काकू ?'

लजाकर कविता ने कहा—'सो मैं जानती हूँ। आज तो तेरे आँसू ने धोखा दिया। पर निशीथ ऐसा अभद्र है सो मैं नहीं जानती थी।'

'अभद्रता इसमें क्या है, वरन् मैं उनकी उस भद्रता को सम्मान की दृष्टि से देखती हूँ। क्या तुम आशा करती हो, चाहती हो, एक विवाहित पुरुष, सन्तान का पिता, दूसरी स्त्री से प्रेम करने लगे? जिससे विवाह हो नहीं सकता, मिलन असम्भव है, उसे वह प्रलोभित करता रहे?'

'किन्तु उस दिन तो एक कुमारी के हृदय की गोपन-कथा सुनने में उन्हें ज़रा भी झिझक न हुई थी, उस भद्र पुरुष ने एक बार भी उस कुमारी को कहने से रोकने की चेष्टा भी तो न की थी। उसने रोका क्यों नहीं? यदि न रोक सका था तो उठकर चला क्यों न गया? यदि ज्वर से तू बेसुध थी, फिर वह तो सुध में था न?'

'मनुष्य मात्र में एक दुर्बलता रहती है। एक ईश्वर है—कदाचित् उसमें दुर्बलता का स्थान न हो। मुझे तो सन्देह होता है काकू, कि ईश्वर भी दुर्बलता के परे न होगा। प्राणी मात्र में दुर्बलता है, फिर मिस्टर घोषाल उस दुर्बलता से बचे कैसे रहते?'

'नहीं, बड़े अच्छे हैं।'—कविता झुँझला पड़ी।

'चिढ़ती हो? फिर सच तो ऐसा ही दुःखद होता है काकू?'

'बड़ी आई सच कहने को। मैं पूछती हूँ कि दुनिया में सभ्य और सुन्दर मनुष्य की कमी नहीं। फिर तूने क्यों उसे ही चुन लिया और उसके दरवाज़े पर अपना सब कुछ लुटा बैठी?'

'फिर भी वही पुरानी बातें। अरे तो क्या प्रेम ने मुझसे पूछकर, छानबीनकर अपना आधार पसन्द कर लिया था? मैं फिर भी कहूँगी काकू, कि उसके पसन्द की रुचि पर मुझे ज़रा-

सा भी पश्चात्ताप, खेद, दुःख कुछ भी नहीं है। मैं सुखी हूँ, सन्तुष्ट हूँ। जो कुछ मैंने पाया है या न पाया है, उतना मेरे लिए बहुत है।'

कविता चुप रही।

'क्या सोच रही हो ?'—पपीहरा ने पूछा।

'उसी की बातें।'

'उसकी बातें ?'

'हाँ-हाँ उसी की बातें। चाहे वह कुछ भी हो, किन्तु स्टेशन पर उन दोनों पति-पत्नी का बर्ताव अत्यन्त असभ्य ज़रूर था। और उसके बाद अन्तत: भद्रता के नाते उन्हें यहाँ पर आना अवश्य उचित था।'

'और आकर विनय-शिष्टता से क्षमा-प्रार्थना कर नाटक की सृष्टि करना भी अवश्य उचित था। किन्तु चाहे वह कुछ भी हो। वह आये थे और दो बार आये थे।'

'अपने घर ?'

'अपने ही घर आये थे काकू, एक बार पहले और दूसरी बार नीलिमा काकी की मृत्यु के बाद।'

'मैंने कुछ नहीं जाना ?'—सन्देह से कविता ने कहा।

'पहली बार काका के पास बैठकर चले गये। मैं उस वक्त सिनेमा के लिए तैयार हो रही थी। दूसरी बार तुम्हारे साथ पार्टी में गई हुई थी। और अब तो छुट्टी में हैं, बीमार हैं न !'

'उनकी सब खबरें तुम रखती हो पिया ! मुझसे कभी कहा नहीं ?'

'भूल गई होऊँगी।'

देर तक उसे निश्चल नेत्र से देख-देखकर कविता ने पुकारा—'पिया !'

'काकू !'

'तेरा जी चाहता है उसे देखने के लिए—?'

'धत्'—पिया ने काकी को हलकी-सी चपत मार दी। कविता घबराकर बोली—'अरे बाप रे ! तुझे तो ज़ोर से ज्वर चढ़ा हुआ है।'

'नहीं-नहीं।'—सर हिलाकर वह आपत्ति करने लगी।

'देखें-देखें। देह तो आग हो रही है। अभी बाहर ख़बर देती हूँ। डाक्टर को बुलवा भेजें।'

'काका से अभी कुछ मत कहना काकू ! कई दिन से बुखार चढ़ रहा है। आप निकल जायगा।'

'कई दिन से ? तो मुझसे कहा क्यों नहीं ?'

'यदि कहती तो तुम मुझे बाहर न जाने देतीं। दवा पिलातीं—वही कड़वी दवा।'

'नहीं, अब बाहर नहीं जाना है।'—डाँटकर कविता ने कहा।

'ज़रा-सा जाना है।'

'बहुत हो गया। चलो पलंग पर। कहीं आना-जाना नहीं है। अभी डॉक्टर को बुलाती हूँ। उठो पपीहरा।'

'अभी लौटूंगी काकू !'

'नहीं, कुछ नहीं। चलो उठो।'

पिया उठी और सुबोध बालिका-सी पलंग पर पड़ रही।

: ३२ :

रात में आठ की घण्टी बज गई और नौ बजने को हुए, किन्तु तब भी पपीहरा घर न लौटी। कविता अधीर होने लगी। लज्जा, संकोच कुछ न रह पाया। उन्मादिनी की भाँति पति के कमरे में चली गई। व्याकुल स्वर से कहने लगी—'मेरी पिया को ला दीजिए।'

'पिया को ?'—अचम्भे से सुकान्त ने पूछा।

'अभी आती हूँ, कहकर वह छः बजे चली गई थीं, अब तक आई नहीं ?'—एक अनजान अमंगल आशंका से कविता का जी घबरा रहा था।

'वैसे बुखार में तुमने उसे जाने क्यों दिया ? मुझे खबर क्यों न कर दी ? डाक्टर ने उसे उठने तक को मना कर दिया था—उसका ज्वर कुछ सन्देह-जनक है।'

'सन्देह-जनक ! कैसा सन्देह ?'

'घबराओ नहीं। डाक्टर कुछ साफ़ तो बोले नहीं। बात-चीत से मालूम पड़ा, बुखार सीधा नहीं है। मैंने बहुत पूछा।'

'कुछ नहीं है, डाक्टर झूठा है।'

ज़मींदार पत्नी का मुँह निहारने लगे।

'झूठा है डाक्टर—'झूठा-झूठा। मेरी पिया को कुछ नहीं है। मलेरिया है। दो दिन में वह अच्छी हो जायगी। आप उसे ढूँढ़कर लाइए। मैंने बहुत रोका। उसने सौगन्ध रख दी। कहने लगी—काका से मत कहो। मैं अभी आई, मीटिंग है। वहाँ मुझे एक मिनट के लिए ज़रूर ही जाना है।'

विवर्ण मुख से सुकान्त खड़े हो गए—'ऐसे बुखार में, और ठण्ड में वह गई, उसे जाने क्यों दिया ? बूंदें पड़ रही हैं। उसे जाने क्यों दिया ? मैं अभी उसे लाता हूँ।'

'वह कहीं पर भी न मिलेगी।'

'कहीं पर भी न मिलेगी !'—विस्मय से सुकान्त ने पत्नी की बात दुहराई।

'नहीं मिलेगी। मैं कहती हूँ, तुम सीधे पुलिस-आफिस में में चले जाओ, वह जेल में मिल जायगी।'

'घबराओ नहीं। पृथ्वी के कोने-कोने से उसे खोज निकालूँगा। उसके लिए मैं सब धन लुटा दूँगा। मेरी बीमार लड़की !'

सुकान्त की गाड़ी हवा से बाज़ी लगाकर दौड़ी। जेल से लेकर शहर के कोने-कोने में सुकान्त अपनी लाड़ली लड़की को खोजते फिरने लगे। उसका पता न चला—न चला। रात बढ़ने लगी और आँधी-पानी से पृथ्वी मथित-सी होने लगी।

मुश्किल से पता चला कि आपत्ति-जनक भाषण देने के लिए पिया को पकड़ लिया गया था और डरा-धमकाकर उसे शहर से ज़रा बाहर छोड़ दिया था। बस।

सुकान्त को शहर के प्रायः सब व्यक्ति जानते थे और आदर-सम्मान करते थे। उनकी ऐसी विपत्ति में मित्रों ने उनका साथ दिया और उनको समझाते हुए पिया को खोजने लगे।

कोई बोला—'आप घबरायें नहीं। लड़की किसी मित्र के घर होगी, आँधी-पानी को भी तो देखिए। ऐसी रात में शायद

घर तक जाना सम्भव न हुआ हो, या कोई सवारी न मिली हो, और फिर बीमार लड़की ।'

किन्तु ऐसी बातों से सुकान्त का उद्वेग घटा नहीं, वरन् बढ़ने लगा । वह भली-भाँति जानते थे, पिया चाहे हठी हो, दुर्दान्त हो, जिद्दी हो; किन्तु रात में घर छोड़कर वह बाहर नहीं रह सकती । तो बाहर रहने का उसके सामने यह जो अवसर आ पड़ा—यह तो सामान्य न होगा । नहीं, वरन् विपद्पूर्ण होगा । कहीं लड़की मारे ज्वर के आँधी-पानी में बेहोश तो न पड़ी होगी ? ऐसे-ऐसे विचारों से सुकान्त उन्मादी-से हो गये । कभी घर पर दौड़े जाते, कभी गहरी निराशा से बाहर अँधेरे में उसे ढूँढ़ते फिरते । कभी गुनगुनाकर कहते—'मेरी बीमार लड़की, बीमार लड़की !'

आँधी-पानी से मशालें बुझ जातीं, तो पन्द्रह-बीस टार्च से काम चलता । उधर रात गहरी होती और इधर सुकान्त की अधीरता बढ़ती जाती थी । उधर पिया की दशा कुछ और ही थी ।

समझा-बुझाकर, डाँट-फटकारकर उसे शहर से बाहर छोड़ दिया गया । उस समय पानी कम बरस रहा था । पपीहरा का ज्वर अधिक हो रहा था, वैसा ही सिर में दर्द । वह चलने को हुई तो चक्कर आ गया । बैठ गई । फिर उठी और बैठी । इसी तरह घंटे बीत गये । पिया के साथी-साथिनों को भी पता न चल पाया कि पिया को कहाँ ले जाया गया है । जब पिया प्रायः शहर तक पहुँची तब आँधी-पानी ने ज़ोर किया ।

पानी में भीगी, काँपती, ठिठुरती बेसुध पिया को घर का पता न लग सका। उस अँधेरे में वह भटकने लगी।

निशीथ का बँगला शहर से बाहर था।

भूली-भटकी, प्रायः हतचेतन पिया उस बँगले के द्वार पर पहुँच गई। वह जान तक न सकी कि वह निशीथ का बँगला है।

किसी तरह पहुँची तो द्वार पर गिर पड़ी। उस रात में मृणाल और निशीथ को नींद न थी। प्रकृति की उस तांडव-लीला को देख-देखकर मृणाल भीत हो रही थी और निशीथ निकट में बैठा हँस रहा था। गिरने के शब्द से वे दोनों चौंके। टार्च लिये निशीथ ने द्वार खोला। टार्च का प्रकाश उस बोध-हीन नारी के मुँह पर पड़ गया। उसे पहचानने के साथ-ही-साथ निशीथ ऐसा चौंका कि हाथ का टार्च ज़मीन पर गिर पड़ा। ऐसा विस्मय उसके जीवन में प्रथम बार था। मृणाल ने भी पिया को पहचान लिया। उसके हृदय में ज़ोर का एक धक्का पहुँचा। अभी-अभी तो वह पति के प्रेम-स्नेह, सोहाग से मतवाली, दुनिया को भूल बैठी थी और एक नशीले स्वप्न में मस्त हो रही थी। फिर अभी यह क्या हो गया? अस्वस्थ पति ने अपनी लम्बी दो माह की छुट्टी तो केवल उसी की तुष्टि में व्यय कर दी है न। पति-पत्नी के बीच में जो कुछ मनोमालिन्य आ गया था, वह तो प्रायः धुल चुका था। अपने दीर्घ विवाहित जीवन में, गम्भीर प्रकृति, अल्पभाषी पति के निकट जो वस्तु न मिल सकी थी और जिस उच्छ्वसित आदर, प्रगल्भ प्रेम, रन्ध्रहीन पति-संग के लिए, निविड़ आलिंगन

के लिए वह सदा व्याकुल, असन्तुष्ट रहा करती थी, वही उच्छृखंल प्रेम उसे इन थोड़े से दिनों में मिल गया था। उस प्रेम में डूबी वह सब कुछ भूल गई थी। तो एक भरे हुए दिन में, तृप्ति का शेष श्वास जब उसे लेना था, तब पृथ्वी का यह विद्रोह कैसा ?

अभी कुछ पहले तक मृणाल सोच नहीं सकी थी कि एक पल के भीतर फिर से उसे अपने उस अभिशप्त अतीत में लौट जाना पड़ेगा। मृणाल के हृदय में एकदम आग-सी जल उठी। उसे लगा, पति और पिया ने मिलकर खासा षड्यन्त्र रच रखा है। और तभी तो उसे भुलावा देने के लिए उनका आदर-प्रेम ऐसा बढ़ गया था न। पल में उसके मस्तिष्क में अनेक विचार उठ पड़े—देखो तो कैसी प्रतारणा है। मृणाल सोचने लगी—वे बोले थे—वे लोग सब चले जा रहे हैं। और मैंने भी स्टेशन पर इन सबको देखा था। तो वह सब मुझे दिखाने के लिए था। पिया कहीं गई नहीं। मृणाल की कल्पना विकृत रूप में आगे बढ़ी और उस विकृत कल्पना ने उसे अन्धा बना दिया। मिथ्या को वास्तव कर दिया। एक पल में उसके नेत्र के सामने एक रुद्ध कमरे का दृश्य सजीव हो गया। एक रुद्ध कमरा फूल की सुगन्धित से आमोदित हो रहा है। झालरदार तकिये पर पति अधलेटे पड़े हुए हैं और उनके अंक में पड़ी तरुणी हँस-हँसकर उनके गले में बाँह डाल रही है। पुष्प-गुच्छ एवं गजरे यहाँ-वहाँ विक्षिप्त पड़े हैं, इन्हीं फूलों से तो अभी-अभी इन दोनों ने खेला था न। तरुणी कोई दूसरी थोड़ी ही थी। वह थी पपीहरा। पिया ने फूल का हार उन्हें पहनाया

होगा और आदर से इन्होंने उसका मुँह—

मृणाल एकदम तिलमिला उठी—तिलमिला उठी। नहीं, वह और कुछ नहीं सोच सकती, नहीं सोच सकती। आज यह क्यों चली आई ? मृणाल ने विचारा—इसलिए कि आज गये न होंगे, तो दौड़ी आई। चुड़ैल ! मृणाल एकदम चिल्ला पड़ी—'उठो-उठो, चली जाओ यहाँ से। सुनती हो ? चली जाओ।'

स्विच दबाकर निशीथ ने लाइट जला दी थी। मृणाल ने पिया को हिलाया।

पिया ने आँखें खोल दीं। उसकी आँखें लाल हो रही थीं।

पिया की दृष्टि निशीथ के मुँह पर चली गई और वहीं निबद्ध हो रही।

पानी कम हो चला।

क्लिष्ट स्वर से निशीथ ने पत्नी से कहा—'शायद पिया देवी का जी अच्छा नहीं है। ठहरो मृणाल, मुझे ज़रा देख लेने दो।'

'चाहे वह बीमार हो, तुमसे उसका क्या सम्बन्ध ? जाओ, तुम भीतर जाओ।'

निशीथ ने जाने की चेष्टा न की।

पिया के कान के पास चिल्लाकर मृणाल कहने लगी—'सुनती हो, जाओ यहाँ से। यदि मरना है तो पेड़ के नीचे जाकर मरो। मैं बच्चों की माँ हूँ। गृहस्थ का अकल्याण मत करो।'

पिया के कान में शायद कुछ शब्द पहुँचे। पल-भर के

लिए उसका बोध कुछ लौटा-सा।

'जाती हूँ'—पूरी शक्ति लगाकर, बड़ी कठिनाई से वह उठी। निशीथ उसका पथ रोककर खड़ा हो गया। पत्नी से बोला—'पागल मत बनो मृणाल! ज़रा-सा मनुष्यत्व बच नहीं पाया है तुममें? ऐसी रात में आँधी-पानी में एक स्त्री कहाँ जायेगी?'

'कहाँ जायेगी, सो मैं क्या जानूँ?'

पिया की ओर निशीथ लौटा—'पिया देवी चलो, कमरे में लेट रहो। मैं घर पर खबर किये देता हूँ और गाड़ी भी अपनी है ड्राइवर घर चला गया है तो मैं तो हूँ!'

पिया कुछ सहमी-सी।

'तुम अपने घर जाओ पपीहरा।'—मृणाल असहिष्णु हो रही थी।

पूर्णदृष्टि से पिया ने निशीथ को देखा—'जाती हूँ, घोषाल!'

'जाती हो। कहाँ जाओगी? ऐसे आँधी-पानी में मैं तुम्हें जाने क्यों दूंगा?'

'न जाने दोगे? किन्तु रखकर भी मुझे क्या करोगे? जाती हूँ।'

'अरे कैसे जाओगी?'

'गाड़ी बाहर खड़ी है।'—गाड़ी की बात पिया झूठ बोली। अपने अशक्त पैरों को किसी तरह खींचती वह बगीचे के बाहर चली गई—चली गई। काका की दुलारी बिटिया,

उस अँधेरी रात में, आँधी-पानी से द्वन्द्व करती चली गई—चली गई।

निशीथ विस्मित हुआ। गाड़ी खड़ी करके, ऐसी आँधी-पानी की रात में वह उसके निकट किसलिए आई थी? यदि आई थी तो कुछ बोली क्यों नहीं? और वह गिर क्यों पड़ी थी? शायद अँधेरे में उसे ठोकर लग गई हो। किन्तु वह ऐसी कमज़ोर क्यों दिख रही थी? उसकी आँखें लाल क्यों थीं? क्या वह बीमार थी? अभी तो बीमार नहीं है! बीमार नहीं है! सोचने के साथ-ही-साथ निशीथ का चित्त अत्यन्त अस्वच्छन्द हो उठा। उसे प्रबल इच्छा होने लगी—उस अँधेरी रात में वह दौड़ा-दौड़ा सुकान्त के घर चला जाये और सब कुछ देख सुनकर लौट आये।

मृणाल बोली—'बहुत सर्दी है, भीतर चलो।'

निशीथ भीतर चला गया। पलंग पर पड़ा। निशीथ ने विचार पक्का कर लिया—कल प्रातःकाल सर्वप्रथम वह पिया की ख़बर लेने को जायेगा।

: ३३ :

रात-भर निशीथ की पलकों में नींद न आई। प्रातःकाल की झिलमिली में वह उठा। जल्दी से हाथ-मुँह धो लिये, कपड़े बदले और पिया के घर के लिए चल पड़ा।

फाटक के बाहर आकर निशीथ स्तम्भित-सा रह गया।

पथपार्श्व के अश्वत्थ वृक्ष के नीचे कुछ मनुष्य एक पड़े हुए शरीर को घेरे खड़े थे और निकट में कई कारें खड़ी थीं।

जाने कैसी एक आशंका से निशीथ की नसें ढीली पड़ गईं। न तो वह आगे बढ़ सकता था और न वहाँ खड़ा रह सकता था। गेट पकड़कर वह खड़ा काँपने लगा।

पिया के तुषार-शीतल शरीर को गाड़ी पर उठाते वक्त निशीथ के व्याकुल कंठ का प्रश्न लोगों ने सुना—'उसे कहाँ लिये जाते हो ?'

विस्मित नेत्र से सबने उसे देखा।

निशीथ ने फिर पूछा—'अभी प्राण है उसमें ?'

'जीवित हैं अभी तक पिया देवी। किन्तु महाशय, वह बीमार थीं, उस पर रात-भर भींगी हैं। अब तो ईश्वर ही पर सब कुछ निर्भर है।'

मृणाल की सतर्क दृष्टि ने पति की बातें देखने-सुनने में भूल न की। वह निशीथ के निकट आकर खड़ी हो गई। सामने के उस दृश्य को देखकर वह सिहरी। और अधिक आश्चर्य तो यह है कि जिस पिया को उसने पेड़ तले पड़कर मरने का परामर्श दिया था, उसी पिया के चेतनाशून्य, शिथिल शरीर को देखकर वह विकल हो पड़ी। कदाचित् उसके जीवन के लिए वह एक बार ईश्वर से प्रार्थना भी कर उठी—प्रभु, बेचारी लड़की को अच्छा कर दो। मैं तुम्हें छिपाकर प्रसाद चढ़ा दूँगी, कथा सुन लूँगी।

गाड़ी पर पिया को लिटा दिया गया और गाड़ी चली गई।

अब एक सीमाहीन लज्जा, ग्लानि ने मृणाल के मन को आच्छन्न-सा कर दिया। अपने आचरण को वह धिक्कारने लगी। यदि कल वह वैसा नीच, हृदयहीन व्यवहार न करती तो उसका सब कुछ बना रहता। अचानक मृणाल के मन में हुआ—यदि पिया न जीये! आतंक और व्यथा से उसका जी भर आया। यदि वैसा हो गया तो वह पति के सामने खड़ी कैसे होगी? ईश्वर से प्रार्थना करने लगी—मेरा सब कुछ तो छीन लिया है। अब पति के सामने सिर ऊँचा करके खड़े होने का अधिकार न छीनो प्रभु! कुछ तो मेरे लिए रहने दो। एक हत्यारिन के रूप में मुझे पति के सामने मत लाओ। इतनी ज़रा-सी कृपा करो प्रभु, मैं बड़ी अभागिन हूँ।

निशीथ को मृणाल ने धीरे से पुकारा—'भीतर चलो। किन्तु निशीथ के कान तक बात पहुँची नहीं। उसके कान में वह शब्द भरे थे—बीमार थीं, उसपर रात भर पानी में भीगी हैं। अब तो ईश्वर ही रक्षा करे।

भीतर गये वे दोनों।

मृणाल को बड़ी इच्छा होने लगी, पति से कहे कि जाकर पिया की खबर ले आओ। किन्तु निशीथ के अस्वाभाविक गम्भीर मुख के सामने वह कुछ भी न कह सकी। अपराधिनी जैसी वह दूर हटी रही।

देर के बाद मृणाल निशीथ के सामने गई, बोली—'पपीहरा को देखने चलूँगी। तुम मुझे वहाँ ले चलो।'

शान्त स्वर से निशीथ ने कहा—'अपने खेल को अपने ही पास रखो मृणाल!'

'अपने खेल को !'

'हाँ, अपने खेल को। किसी के जीवन को लेकर खेलने का अनुरोध अब मुझसे न करो। तुम्हारे अद्भुत ख़याल को मिटाने जाकर तुम्हारी अनर्थक ईर्ष्या को शान्त करने जाकर, कल रात जिसे मौत के मुँह में मैंने ढकेल दिया है, उसे अब सहानुभूति जताने जाना व्यर्थ है। और न इसकी कोई ज़रूरत ही है। समझीं मृणाल ! मेरे हाथ की मौत—चाहे वह भली हो या बुरी, वह उसे ही श्रेष्ठ वरदान समझकर उठा लेगी, उद्वेग की ज़रूरत नहीं। तुम निश्चिन्त रहो, वह हँसकर उस मौत को ले लेगी।'

पति की बातें वह सुनती जाती थी और धैर्य का बाँध टूटता जाता था। कुछ देर पहले उस हृदय में पपीहरा के लिए जो सहानुभूति, करुणा उमड़ पड़ी थी, उस करुणा का शेष बिन्दु तक बाध्य होकर उड़ गया। तीव्र स्वर से वह बोली— 'मैं नीच हूँ, ईर्ष्यालु हूँ, अपराधिन हूँ। सब कुछ ठीक है और इसे मान भी लेती हूँ। किन्तु मैं तुम्हीं से पूछती हूँ—क्या यह निरपराध है ? क्या उसने दूसरे के पति को नहीं चाहा ? क्या उसने मेरे पति को पराया नहीं कर दिया ?'

'तुम्हारे पति को उसने नहीं, तुमने पराया कर दिया है मृणाल ! यदि उसने चाहा था तो उस चाह में कल्याण ही कल्याण था, ध्वंस का मन्त्र नहीं। उसके चहुँओर लहू के जो अक्षर थे, कभी उन्हें पढ़ने की चेष्टा की थी तुमने ? नहीं, उन्हें तुम नहीं पढ़ सकती थीं, क्योंकि उनके पढ़ने के योग्य तुम हो नहीं। उसके चहुँओर क्या कभी तुमने यौवन की चपलता को

हिलोरें मारते पाया था ? नहीं, यदि आँख पसारकर देखतीं तो उस युवती के चहुँओर जीवन के गाम्भीर्य को तुम स्तवन करते हुए पातीं। छोटा-सा मन लेकर, किसी परिधि में बाँधकर तुम पिया को नहीं समझ सकती हो मृणाल ! उसे समझने के लिये एक बड़ा मन चाहिए। आकाश के ध्रुवतारे को देखा है तुमने? सृष्टि के परे उस प्रज्वलित हेम-शिखा की कल्पना तुम कर सकती हो मृणाल ? यदि नहीं, तो तुम पिया को भी नहीं समझ सकती हो। वह पृथ्वी का ध्रुवतारा है, सृष्टि के परे की हेम-शिखा है। आई है अपनी शिखा में आप विकीर्ण होने के लिए और पृथ्वी को कल्याण का पाठ देने के लिए। उसे पाना तो दूर की बात है, मुझमें ऐसी शक्ति कहाँ जो उसे स्पर्श करता ?'

निशीथ के मित्र सुरथ ने पुकारा—'घर में हो निशीथ ?'

सन्ध्या हो गई थी, निशीथ बैठक में चुपचाप बैठा था।

'आओ।'—निशीथ ने कहा।

सुरथ कुर्सी पर बैठ गया—'अब तो अच्छे हो न ?'

'हाँ, अच्छा हूँ।'

'बहुत दिन से आया नहीं, तो आज चल पड़ा, किन्तु रास्ते में देर लग गई।'

'काम पड़ गया होगा !'

'नहीं भाई। बहुत-सी गाड़ी, मोटरों को सुकान्त बाबू के दरवाजे पर रहते देखकर भीतर चला गया। भीड़ लगी हुई थी। एक तो बड़े आदमी की दुलारी लड़की, उस पर देश-सेविका। डाक्टर, वैद्यों से घर भरा हुआ था, शहर का शहर दरवाजे पर इकट्ठा था, किन्तु कुछ न हो सका।'

'वह चली गई ?'—निशीथ एकदम चौंक पड़ा।

'हाँ, लड़की चल बसी। अहा, बेचारे काका-काकी दोनों पागल हो रहे हैं। पपीहरा की बहन, बहनोई भी पहुँच गये थे। बहनोई विभूति भी औरतों जैसा चिल्ला-चिल्लाकर रो रहा है, बहन बेचारी बेहोश है। सुना है, वह छः-सात दिन से बीमार थी और उसी अवस्था में मीटिंग में चली गई थी, वहाँ भाषण भी दिया था। इधर घर के लोग उसे रात-भर ढूँढ़ते फिरे। सबेरे अचेतन वह किसी पेड़ के नीचे पड़ी मिली। कहते हैं, घर में जाकर उसे एक बार होश आया था। बोली थी—जाती हूँ। और बस उसके बाद मृत्यु हो गई।'

सुरथ और भी न जाने क्या-क्या कह गया, किन्तु सब बातों के सुनने योग्य मन की स्थिति उस वक्त निशीथ की थी नहीं।

निशीथ विचार रहा था—चली गई, वह चली गई। आई थी वह शेष मुहूर्त में प्रेम का दावा लेकर—उसी के दरवाज़े पर आई थी। मृत्यु से कदाचित् उसने विनय की होगी, नहीं-नहीं विनय कैसी ? उसने तो दो मिनट ठहरने के लिए मृत्यु को आज्ञा दे दी होगी, विश्व की रानी की तरह आदेश दिया होगा कि अभी दो मिनट ठहर जाओ। और चली आई थी—उससे विदा लेने।

और उसने पिया को क्या दिया था ?

उस गहरी अँधेरी रात में, आँधी-पानी से डूबती हुई सृष्टि के भीतर उस अस्वस्थ नारी को ढकेल दिया था और आप नरम-नरम गद्दे पर सो रहा था। पृथ्वी में कदाचित् जिसने उसे सबसे अधिक चाहा था, उसकी कर दी उसने अपने हाथों

हत्या ! कैसी विचित्र वार्ता है !

सुरथ बोला—'अच्छा तो नमस्कार। जाता हूँ, हो सका तो फिर मिलूँगा।'

निशीथ ने न प्रति-नमस्कार किया, न उत्तर दिया। वह खुली खिड़की से नीलाकाश को निहारता रह गया।

: ३४ :

मृत्युलोक में यदि आँसू का कोई मूल्य रहता तो ज़मींदार-परिवार के उस बाढ़ जैसे आँसू पपीहरा को वहाँ से खींचकर लाते जरूर। किन्तु वहाँ तो आँसू का कोई मोल ही नहीं रहता, फिर पिया के लिये यदि कोई परिवार आँसू के कुंड में डूबा रहे तो इससे लाभ-हानि क्या ? सुकान्त-परिवार को दिन काटना था तो किसी तरह रोते-कलपते दिन कट रहे थे। इसी तरह दो महीने निकल गये।

सुकान्त का वसीयतनामा तैयार हो गया, जिसमें उन्होंने अपनी सम्पत्ति कविता को दान कर दी थी। वसीयतनामे की रजिस्टरी हो गई तो उन्होंने कविता को बुलाया। द्विविधा किया, न किया, फिर परिष्कृत कंठ से वह बोले—'अपनी सुकृति और दुष्कृति सब कुछ तुम्हें सौंपकर आज विदा ले रहा हूँ कविता !'

'आप कहाँ जा रहे हैं ?'—मूर्तिमान् शोक की भाँति कविता ने उनके सामने खड़ी होकर पूछा।

'बैठ जाओ—गिर पड़ोगी। मैं जा रहा हूँ—बस जानता इतना ही हूँ। कहाँ जा रहा हूँ सो मैं नहीं जानता। पिया के बिना यह घर हमें काटने को दौड़ रहा है। अभी तो देश देखता फिरूँगा। यह लो, इसे सन्दूक में रख देना।'

'यह क्या है ?'—हाथ का कागज़ हिलाती हुई कविता ने पूछा।

'सम्पत्ति का वसीयतनामा।'

'इसे लेकर मुझे क्या करना पड़ेगा ?'

'मालिक तुम हो, जो जी में आवे सो करो।'

उसने उदास व्यथा से कहा—'इतने धन को लेकर मैं अकेली स्त्री क्या करूँगी ? आप किसी भले काम पर इसे दान कर दीजिए। और यदि उचित समझें तो यमुना को कुछ दे दीजिए।'

'धन पर मेरा कोई अधिकार नहीं है। यदि तुम चाहो तो उसे कुछ दे दिया करो। किन्तु मेरे विचार से उसे ज्यादा देने से विभूति सब उड़ा डालेगा। यदि कभी कुछ दे दिया करो तो ठीक होगा। दूसरी बात—मेरी बड़ी अभिलाषा है, प्रतिवर्ष मेरी पिया की मृत्यु के दिन दरिद्र भोजन का विराट् आयोजन हुआ करे और इसलिए धन की जरूरत है। यदि सब दान कर दिया जायगा, तो यह काम कैसे हो सकेगा ?'

कविता का मुख प्रसन्न हो गया। बोली—'बड़ी अच्छी बात हैं।'

'हाँ, और उस अच्छी बात को प्रतिवर्ष निभाने के लिए, एवं ज़मींदारी की देख-भाल करने के लिए एक देवी की जरूरत

थी, इसी से उस देवी को मैं सब कुछ सौंपे जाता हूँ।'

कविता का जी चाहने लगा कि वह चिल्लाकर कहे—मुझे देवीत्व की जरूरत नहीं। इस दुखी जीवन को लेकर मैं एकान्त में रहना चाहती हूँ। इस विडम्बित जीवन को लेकर दुनिया के किसी अँधेरे कोने में मुझे पड़ी रहने दो, जहाँ दिन का प्रकाश न पहुँच सके, एक पक्षी भी न पहुँच सके, जहाँ अन्धकार रहे—केवल अन्धकार, निविड़तम अन्धकार। सम्पदा के सिंहासन पर बैठाकर, कर्त्तव्य की बेड़ी पैर में डालकर अब मुझे अभिशप्त मत करो। किन्तु वह कुछ न कह सकी। चुपचाप पति का मुँह निहारने लगी।

'कब तक आप लौटेंगे ?'—देर के बाद उसने पूछा।

'लौटने का विचार तो अब बिल्कुल नहीं है; किन्तु यदि तुम कहो, तो फिर मुझे लौटना पड़ेगा। दुनिया जानती है, तुम-हम पति-पत्नी हैं, किन्तु मैं जानता हूँ कि तुम क्या हो! जानता हूँ, देवी हो और देवी ही रहोगी। और ऐसी आशा भी करता हूँ कविता कि जाने से तुम मुझे रोकोगी नहीं। वरन् प्रसन्न-चित्त से अनुमति दे दोगी।'

देवी है—वह—देवी—देवी, न भार्या, न माता—न सहधर्मिणी, न प्रिया, न प्रेयसी, सखी भी नहीं, केवल देवी, देवीत्व। कविता का श्वास हृदय में घुट-घुटकर मरने लगा। गला फाड़कर उसका कहने को जी चाहने लगा—जी चाहने लगा—मैं केवल देवी ही नहीं हूँ, स्वामी! और भी कुछ हूँ। ज़रा मुझ अभागिनी को पृथ्वी के भले-बुरे के भीतर भी तो देखना सीखो।

'तो अनुमति तुम दे रही हो न कविता ?'

'नहीं ।' दृढ़ स्वर से उसने कहा ।

'क्या कहा ?'—अखण्ड विस्मय से सुकान्त बोले ।

'नहीं, नहीं—इस अकेले घर में मैं नहीं रह सकती ।'

'आज मैं क्या सुन रहा हूँ कविता ? वरदान की वेला यह विमुखता कैसी ?'

'एक मानवी के भीतर आप देवीत्व को कहाँ ढूंढ़ते फिर रहे हैं ?'

'मानवी नहीं, तुम देवी हो ।'

'देवी ही सही । किन्तु देवी तब तक देवी रह सकती है जब तब कि कोई उपासक रहे । यदि उपासक ही न रहेगा तो देवी का देवीत्व कैसा ? और तब एक सामान्य नारी उस बड़े-से बोझ को ढोयेगी कैसे, जिसे कि आप धरे जा रहे हैं ?'

हतवाक् सुकान्त बोले—'मेरे जीवन की इस अवेला में तुम मुझे यह कौन-सी गाथा सुना रही हो कविता ?'

'एक छोटी-सी कविता । और इसका पाठ मुझे पिया ने दिया था । पिया के अनुरोध को मैं नहीं टाल सकती हूँ । न आपके लिए टाल सकती हूँ, न आपके देवीत्व के लिए और पिया के काका को भी कहीं बाहर जाने नहीं दे सकती हूँ । उसकी जीवित अवस्था में मैंने उसका अनुरोध नहीं रखा । किन्तु उस मृता के निकट मैं अपराधिनी बनकर नहीं रह सकूँगी ।'

'परन्तु मैं अपनी लज्जा को ढाँकूंगा किस चीज से कविता ?'

'वह तो आप ही जानिए । मैं जानती हूँ इतना कि आप

पिया के काका हैं और मेरे पति। एवं मैं अपने पति को बाहर जाने भी नहीं दे सकती।'

'किन्तु तुमने इतनी देर क्यों लगा दी कविता? इस अवेला में मैं उस खोये हुए मन को ढूंढ़ता फिरूँ कहाँ?'

'इसकी क्या ज़रूरत है? मैं पिया की काकू हूँ और तुम हो उसके काका। क्या इतना परिचय तुम्हारे और मेरे लिए यथेष्ट न होगा?'

सुकान्त मुँह ढाँककर बैठ गये, बोले—'पिया की काकू हो तुम? तो आओ, मेरे निकट आकर बैठ जाओ। किन्तु मेरी ढँकी हुई आँखों को कभी खोलने के लिए न कहना।'

संयत स्वर से कविता ने उत्तर दिया—'इसकी ज़रूरत किसी दिन पड़ेगी नहीं।'

: ३५ :

श्रावण-सन्ध्या घनी हो रही थी। वर्षण-विरत मेघ आकाश की गोद में डमरू बजा रहे थे। वायु श्रावण के गान से फूल रही थी। और पृथ्वी श्रावण की धारा को आकंठ पीकर सृष्टि की खँजरी बजा रही थी।

मृणाल हारमोनियम के साथ गला मिलाकर एक ग़ज़ल गा रही थी—

पिया की नगरिया के श्यामलिया रे
बाज रही सुन मिलन बांसुरिया।

बाहर के कमरे में बैठा निशीथ कुछ पढ़ रहा था। संगीत का पद उसके हृदय में एक आवर्त की सृष्टि करने लगा। उससे बैठा न गया। उठा और पत्नी के निकट जाकर वेदनातुर स्वर से कहने लगा—'नहीं-नहीं, इस गाने को तुम न गाओ।'

पूर्ण दृष्टि से पति को देखती हुई मृणाल उत्तर में बोली—'किन्तु इस गान को गाने का आज तो केवल मुझी को अधिकार है। वह तुम्हारी पिया है, मेरी भी तो पिया है न। और तुम केवल उसी के पिया नहीं हो, मेरे भी पिया हो। उसके और मेरे भीतर जो एक व्यवधान था, उसकी मृत्यु ने आज उसे दूर कर दिया है। और उस व्यवधान के स्थान पर मिलन का एक अमर गीत रख दिया है। हटो मत, पास आओ। देखो, यह किसका चित्र है?'

निशीथ ने देखा, पपीहरा का एक बड़ा-सा आयल-पेंटिंग दीवार पर लटक रहा है। चित्र में उसके मुँह की हँसी तक सज़ीव हो रही है। चित्र के गले में फूल का मोटा गजरा बहुत ही सुन्दर लग रहा था। चित्र कब और कैसे, कहाँ से आया, और कब दीवार पर लटकाया गया, यह सब निशीथ कुछ नहीं जान पाया था।

अपलक नेत्र से निशीथ चित्र को देखने लगा। पिया—वही पिया–स्वर्ग की विद्याधरी, नीलम देश की नीली परी, मीठी, मोहक, मधुर पपीहरा सामने खड़ी मुस्करा रही थी—और ध्यानमग्न पुजारी-सा निशीथ समाधिस्थ था।

प्रीति नेत्र से मृणाल ने पति को देखा, उसके बाद उसका

हाथ पकड़कर बोली—'देखो, इसे पहचानते हो न ? पिया को तुम पहचानते हो न ?'

'नहीं-नहीं, उसका नाम तुम मत लो। तुम्हारे मुँह से मैं उसका नाम नहीं सुन सकूँगा—नहीं सुन सकूँगा।'

'नहीं सुन सकोगे ? क्योंकि मैं घातक हूँ, इसलिए ? मेरे लिए वह मरी ? किन्तु मैं कहती हूँ, नहीं—वह मरी नहीं, मर सकती नहीं। मृत्यु के बाद जो एक जीवन है, उस जीवन में वह जीवित है, जीवित रहेगी। पिया नहीं मर सकती। तुम मर जाओगे, मैं मर जाऊँगी, किन्तु वह न मर सकेगी। उस प्रेम की मृत्यु कहाँ है, जिसमें कि ध्रुवतारा का सत्य, ध्रुव, सुन्दर, शुचिता, कल्याण भरा रहता है ? क्या तुम देख नहीं पाते, सुनते नहीं हो ? वह तो ध्रुवतारे में बैठी जगत् को प्रेम का, कल्याण का, साहस का, निष्ठा का, सत्य का पाठ दिया करती है। मुझे भी उस करुणा का कण मिल गया है।'

पत्नी के हाथ में निशीथ का पड़ा हुआ हाथ बार-बार सिहरने लगा, कौन जाने किसलिए, घृणा से या वितृष्णा से अथवा प्रेम से, निशीथ ने अपना हाथ खींच लिया। उस चित्र से निशीथ के नेत्र हट न सके। उस उल्का-सी रूपसी को, नेत्र की सर्वग्रासी दृष्टि से निशीथ पीने-सा लग गया। कौन जाने मृणाल की बातें उसके कानों तक पहुँचीं भी या नहीं।

वेदनातुर नेत्र से मृणाल ने एक बार पति को देखा और फिर मृदु-मृदु गाने लगी—

पिया की नगरिया के श्यामलिया रे
बाज रही सुन मिलन बाँसुरिया,

तन-मन में और डगरिया में
बाज रही सुन मिलन बाँसुरिया।
पिया-पिया की भोली माया
जल-स्थल में है व्यापी काया
छाय रही पिया की छाया
बाज रही सुन मिलन बाँसुरिया।